www.samajdharmevemdarshan.org.in ISSN : 0974-9764

अभिनिर्णीत

समाज धर्म एवं दर्शन

वर्ष 39, अंक 1-4
अप्रैल 2021 मार्च 2022
चैत्र-फाल्गुन (संवत् 2078)

सम्पादक

जटा शंकर

सहसम्पादक

ऋषि कान्त पाण्डेय

प्रबन्ध सम्पादक मण्डल

डॉ0 त्रिविक्रम तिवारी, डॉ0 क्षमा तिवारी

श्री नीरज कुमार पाण्डेय, श्री प्रभाकर पाण्डेय

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान का त्रैमासिक

117 सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद - 211002

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या		पृष्ठ संख्या
1.	**जटाशंकर** *स्वामी विवेकानन्द की समाजवादी दृष्टि*	1
2.	**नीलिमा मिश्र** *सार्त्र (द क्रिटीक ऑफ़ डागलेक्टिकल रीजन) में व्यक्ति एवं सामाजिक संबंध : एक विवेचन*	8
3.	**अभिषेक कुमार** *यूथेनेसिया का नीतिशास्त्र*	14
4.	**विवेक कुमार पाण्डेय** *सांख्य दर्शन के ज्ञान-विषयक मत की समालोचना*	20
5.	**नीरज कुमार पाण्डेय** *ध्यान की अवधारणाः जे0 कृष्णमूर्ति के विशेष संदर्भ में*	25
6.	**मनोज कुमार मिश्र** *शब्दार्थ नित्यानित्य सम्बंध : एक विमर्श*	30
7.	**विनय कुमार तिवारी** *पातंजल योगसूत्र एवं वेदान्त परिभाषा में प्रमा का लक्षण : एक तुलनात्मक अध्ययन*	35
8.	**प्रभाकर पाण्डेय** *योग की प्राचीनता और उसकी आधुनिक प्रासंगिकता*	40
9.	**देवेश कुमार पाण्डेय** *मानवाधिकार का दर्शन और कुछ प्रमुख समसामयिक समस्याओं का आनुभविक मूल्यांकन*	45
10.	**पूनम त्रिपाठी** *व्यक्तित्व और ईश्वर*	50
11.	**अजय कुमार** *महात्मा गाँधी का अनासक्तियोग और गीता*	57
12.	**प्रफुल्ल चन्द** *हठयोग एवं क्रियायोगः एक तुलनात्मक विवेचन*	60
13.	**अजिता यादव** *पं0 दीन दयाल उपाध्याय की राष्ट्र की संकल्पना एवं राष्ट्रीय चेतना*	67
14.	**चंद्रा पुरोहित** *स्मृतियों में नारी-स्वातंत्र्य*	74
15.	***श्वेता देवी*** *सत्योपाख्यानम् : एक समीक्षा*	83

अहंवेद

लेखक
रामाश्रय तिवारी

प्रकाशक
श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान
भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

भारतीय संस्कृति एवं संविधान

लेखक
रामाश्रय तिवारी

प्रकाशकः
रामाश्रय तिवारी
बी 38/51-च-4ए, तुलसीपुर, महमूरगंज, वाराणसी

मानस-मणि-मालिका

(रामचरित मानस में व्यवहार, धर्म एवं नीति की शिक्षा)

संकलनकर्ता
रामाश्रय तिवारी

प्रकाशक
श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान
भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

बालोपयोगी

नैतिक शिक्षा

प्रणेता
रामाश्रय तिवारी

प्रकाशक
श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान
भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

नैतिक

सामाजिक/राजनैतिक संगठन

(सांस्कृतिक पुनरुत्थान द्वारा समाज/राष्ट्र निर्माण)

लेखक

रामाश्रय तिवारी

पूर्व उप परिवहन आयुक्त, उत्तर प्रदेश

गीता में धर्म एवं जीवन के आदर्श

संकलनकर्ता

रामाश्रय तिवारी

प्रकाशक

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान

भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

चरैवेति

(स्फुट विचार संग्रह)

लेखक

रामाश्रय तिवारी

पूर्व उप परिवहन आयुक्त, उत्तर प्रदेश

संगति

योग्यता का तिरस्कार और अयोग्य का चयन एक ऐसी विसंगति है, जिस पर कबीर जैसे सन्त एवं फक्कड़ समालोचक कह बैठते हैं -

साँचे कोई ना पतिपाय, झूँठे जग पतिपाय।
गली-गली गोरस फिरे मदिरा बैठि विकाय।।

अभिप्राय यह कि जब गुण की परख के बिना स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की स्थिति होती है तो यह व्यक्ति और समाज के पतन का कारण बनती है। पतन इसलिए होता है, क्योंकि उचित कार्य, उचित समय पर योग्य व्यक्ति ही पूरा कर सकता है। इतना ही नहीं, यह प्रकृति में भी विक्षोभ पैदा करती है और महा विनाशकारी हो जाती है।

मानसिक संकीर्णता के साथ लिये गये निर्णय कभी भी कल्याण कारी नहीं हो सकते। अनेक ऐसे उदाहरण जब देखने में आते हैं, जहाँ परिवार, जाति, पन्थ और क्षेत्र जैसे सीमित आधारों पर व्यापक हित के तथा सार्वजनिक निर्णय लिये जाते हैं, तो उनका दूरगामी परिणाम बुरा होता है। इतिहास साक्षी है, कि किसी धृतराष्ट्र का निर्णय आज तक कभी मंगलकारी नहीं हुआ। समाज एवं राष्ट्र का हित इसी में है, कि योग्यता का सम्मान किया जाय। गोरस को मदिरा से अधिक हितकर महत्वपूर्ण समझा जाय। अतः सर्व कल्याण के लिए निर्णय का आधार व्यापक होना चाहिए। संकीर्णता सर्वकल्याण को जन्म नहीं दे सकती। संगति इसी में है कि योग्य का चुनाव और अयोग्य को योग्य बनाने में सहायता की जाय।

जटाशंकर
संपादक

स्वामी विवेकानन्द की समाजवादी दृष्टि

जटाशंकर

पूर्व अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) के पूर्व कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंजेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो का प्रकाशन करके तथा अन्य अनेक पुस्तकें लिखकर वैज्ञानिक समाजवाद की आधारशिला स्थापित कर दी थी। अतः प्रश्न उठता है कि क्या स्वामी विवेकानन्द वैज्ञानिक समाजवाद के साहित्य तथा विचार प्रणाली से अवगत थे? उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका का भ्रमण किया था, अनेक विद्वानों तथा विचारकों से मुलाकात की थी तथा वे स्वयं को समाजवादी भी कहते थे। इससे प्रतीत होता है कि वे समाजवादियों, उनके क्रियाकलापों तथा विचारों से परिचित थे। हमें परीक्षण करना होगा कि क्या कोई अन्तर अथवा बाह्य प्रमाण इस पक्ष में दिया जा सकता है?

कुछ दशकों पूर्वं एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें स्वामी विवेकानन्द के समाजवादी विचारों का उल्लेख किया गया था। इस पुस्तक में उन्होंने घोषणा की है कि मैं समाजवादी हूँ।[1] इस पुस्तक के अधिकांश पाठकों नें इस बात का उल्लेख किया है कि इस प्रसंग में स्वामी जी के विचारों का अतिरंजित चित्रण किया गया है। अराजकतावाद, उच्छेदवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद जैसे पाश्चात्य आन्दोलनों से वे परिचित थे और पेरिस अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में पीटर क्रोपात्किन जैसे विचारकों से उनका साक्षात्कार भी हो चुका था।[2]

विवेकानन्द के जीवनकाल में समाजवादी आन्दोलन अपनी बाल्यावस्था में था। इसलिए उन्हें समाजवादी राज्य के वास्तविक स्वरूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। किन्तु यह बात तो प्रमाणित है कि उन्हें इन आन्दोलनों की भावी सफलता में पूर्ण विश्वास था। वे अपूर्व भविष्यद्रष्टा थे, और उन्होंने घोषणा की थी कि शक्ति का वास्तविक स्रोत जनसमूह है।[3] उनकी यह घोषणा उनके समाजवादी होने का एक अन्तर प्रमाण है। उनकी दृष्टि संदर्शन में शूद्र ही भारत के सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इस देश के लिए उन (शूद्रों) का उन्नयन ही समाजवाद है। स्वामीजी के इन विचारों में स्पष्ट झलक मिलती है कि वे समाजवाद के आदर्शों से प्रभावित थे। सन्त तथा पापी, धनी तथा निर्धन, गोरे तथा काले, शासक तथा शासित सबके प्रति उनका दृष्टिकोण समतावादी था। ये अन्तर प्रमाण इस तथ्य को उजागर करते हैं कि स्वामी विवेकानन्द समाजवादी विचार प्रणाली से परिचित थे।

किन्तु कतिपय विचारकों ने आलोचना करते हुए कहा है कि विवेकानन्द के पास कोई ठोस समाजवादी विचार नहीं थे, प्रायः वे समाजवाद के अभिप्राय को लेकर अस्पष्ट विचार प्रकट करते थे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता कि विवेकानन्द के जीवनकाल तक कोई भी समाजवादी राज्य स्थापित नहीं हो सका था। अस्तु इन आदर्शों की वास्तविकीकरण उनके जीवन में नहीं हो सका था, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वामी जी इन आदर्शों से भी अनभिज्ञ थे। समाजवाद से उनका क्या अभिप्राय था? इसका विश्लेषण करने पर हम जान सकते हैं कि क्या वास्तव में वे इन विचारों से परिचित थे या नहीं। समाजवाद का विरोध उन्होंने पूंजीवाद से न दिखलाकर व्यक्तिवाद से दिखलाया है। निम्नलिखित रूप में समाजवाद की परिभाषा उन्होंने दी है, 'वह सिद्धान्त जो सामाजिक श्रेष्ठता के सम्मुख वैयक्तिक स्वातंत्र्य का बलिदान करता है, समाजवाद कहलाता है, जबकि वह जो व्यक्ति के हितों का पक्षधर है, व्यक्तिवाद कहलाता है।[4]

उपर्युक्त परिभाषा से यह आशय प्रकट होता है कि स्वामी जी का समाजवाद व्यक्ति के अधिकारों एवं सुविधाओं के परित्याग तथा कर्त्तव्यों एवं सेवाओं के सम्पादन में निहित है। स्पष्टतः यह समाजवाद मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद को अपेक्षा, मानवतावाद के अधिक निकट है। मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की अपेक्षा विवेकानन्द का समाजवाद श्रेष्ठतर प्रतीत होता है, क्योंकि अधिकारों की रक्षा कर्तव्यों के पालन द्वारा ही संभव है। केवल अधिकार अरक्षित रहते हैं। अस्तु विवेकानन्द के सिद्धान्तों का आधार मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार की अपेक्षा पुष्टतर है ।

विवेकानन्द ने समाज के उन विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति का विवेचन किया है जो कालान्तर में जाति में परिवर्तित हो गये। एक वर्ग ने उपयोगी स्वामी विवेकानन्द की समाजवादी दृष्टि वस्तुओं के उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। एक अन्य वर्ग ने उनकी रक्षा का भार वहन किया, तथा एक अन्य वर्ग ने उन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने तथा उनका विक्रय करने का कार्य सँभाला। द्वितीय तथा तृतीय वर्ग ने वस्तुओं के होनेवाले लाभ का अधिकांश स्वयं ले लिया तथा वे लोग जो उन वस्तुओं से वास्तविक उत्पादक थे, अपने उचित अंश से वंचित रहे। इस प्रकार रक्षा करने वाला वर्ग राजा या क्षत्रिय कहलाया, इन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जानेवाला वर्ग वणिक् वर्ग बना। इन दोनों वर्गों ने अपने परिश्रम से कुछ भी नहीं उत्पन्न किया, किन्तु ये दूसरों के श्रम का अधिकतम लाभ लेते रहे। कालक्रम के अनुसार ये सम्बन्ध जटिलतर होते गये और इस प्रकार हमारा जटिल आधुनिक समाज बना ।

भारतीय समाज ऐसे चार वर्णों के विभाजन पर आधारित है, जो एक सामाजिक साम्यावस्था को प्राप्त कर चुके हैं। अतः इस समाज में कमजोर वर्ग के लिए एक प्रकार की सामाजिक सुरक्षा बनी रहती है, जबकि यूरोपीय समाजों में सबल और निर्बल के बीच अनवरत संघर्ष जारी रहता है। इस संघर्ष में निश्चित रूप से सबल की विजय होती है। विवेकानन्द ने इस बात को बलपूर्वक कहा है कि कुछ मामलों में भारतीय व्यवस्था यूरोपीय वर्ग-प्रथा से श्रेष्ठतर है। वे अनेक वर्णों अथवा वर्गों के पक्षधर थे, क्योंकि इस प्रकार के विभाजन सामाजिक उन्नति के आधार हैं। किन्तु वे जातिप्रथा के पक्ष में नहीं थे। विभाजन तो आवश्यक है, क्योंकि कोई भी अकेला व्यक्ति समस्त प्रकार के कार्य नहीं कर सकता। किन्तु इस कार्य के आधार पर एक वर्ग दूसरे वर्ग की अपेक्षा हेय अथवा श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। स्वामी जी ने कहा है कि मनुष्यों का एक छोटा समूह सभी कार्यों को नहीं कर सकता। विश्व की अनन्त शक्ति का नियंत्रण थोड़े लोगों के द्वारा संभव नहीं है। यहाँ स्पष्ट रूप से वह बाध्यता प्रकट होती है जिसके वशीभूत होकर बमों का अथवा वर्गों का विभाजन किया गया।[5] भारतीय वर्ण-विभाजन श्रम पर आधारित। अतः यह पूर्णतः निर्दोष न होते हुए भी यूरोपीय समाज के वर्ग-भेद से अच्छा है।[6]

स्वामी जी की दृष्टि में धर्म का जातिप्रथा के साथ कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं हैं। वंशपरम्परागत व्यापारिक समूह तथा सामाजिक रीति-रिवाज पर जातिप्रथा आधारित है। भारत के सभी महान उपदेशकों ने जातिप्रथा के उन्मूलन पर बल दिया है। किन्तु सामाजिक रीति-रिवाज के रूप में यह प्रथा उपयोगी तथा आवश्यक है। अपने वास्तविक स्वरूप में वर्ण व्यवस्था ने लम्बे काल तक भलीभाँति लोगों की सेवा की है, किन्तु कालान्तर में कुछ कठोरताओं के प्रवेश से यह अपवित्र हो गयी। स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण वर्णव्यवस्था के केवल वास्तविक स्वरूप के लिए ही सत्य है, कालान्तर में रूपान्तरित दूषित रूप के लिए नहीं। अपने इन विचारों के कारण स्वामी विवेकानन्द अनेक आलोचनाओं के पात्र बनें। उन्हें परम्परावादी भी कहा गया है।[7] किन्तु ये आलोचनाएँ अनभिज्ञता पूर्ण हैं ।

विवेकानन्द एक महान राष्ट्रवादी थे। अपने परतंत्र राष्ट्र को संसार के अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों की समानता में लाने के लिए उन्होंने प्रयास किया। उन्होंने भारत-भूमि की विगत महानता का गुणगान किया, तथा यह सिद्ध कर दिखाई कि वह विश्व का सर्वोत्तम सभ्य देश रहा है। उन्होंने कहा है कि हमारी इस पवित्र भूमि पर बर्बर विजेताओं की लहरों पर लहरें आती रहीं हैं,[8] विश्व में सर्वाधिक कष्टयुक्त भूमि होते हुए भी भारत ने अपनी मौलिकता का परित्याग नहीं किया। उनकी देशभक्ति की भावना निश्चित रूप से सराहनीय हैं। उनके मत में भारत विश्व का आध्यात्मिक गुरु है। भारत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को समस्त विश्व में आदर्श स्वीकार किया जाता है। आज हम पाते हैं कि हमारे विचार भारत तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि हमारे चाहे अनचाहे वे बाहर पहुँच रहे हैं, अन्यदेशों के साहित्यों में प्रवेश कर रहे हैं। अनेक देशों में अपना स्थान बना रहे हैं तथा कुछ में तो नियन्त्रण करने एवं आदेश देने की स्थिति में हैं।[9]

वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्य संन्यासियों से अलग रहकर स्वामीजी ने वैयक्तिक मोक्ष एवं स्वतन्त्रता के लिए प्रयास नहीं किया। उन्होंने समस्त मानवजाति के मोक्ष तथा मानवता की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किया। उनका उद्देश्य था निम्नतम मनुष्य को उच्चतम को स्थिति में पहुंचाना। अपने जीवन काल में वे मन वचन और कर्म से गरीबों की भलाई के लिए सतत प्रयास करते रहे। उन्होंने कहा कि एक ओर ब्राह्मण हैं, दूसरी ओर चाण्डाल हैं। हमारा सम्पूर्ण प्रयास है, चाण्डाल का ब्राह्मण तक उन्नयन।[10] स्वामी विवेकानन्द ने यह दिखाया है कि हमारे प्राचीन शास्त्र भी शनैः शनैः शूद्रों को अधिक सुविधा देने की दिशा में अग्रसर होते रहे हैं। प्रथम स्तर पर शूद्रों को वेद का श्रवण निषिद्ध है, द्वितीय स्तर पर उन्हें उच्चतर शिक्षा का निषेध किया गया है, किन्तु यह भी आदेश है कि उन्हें परेशान न किया जाय। तृतीय स्तर पर यह कहा गया है कि यदि शूद्र ब्राह्मणों के नियमों एवं रीतिरिवाजों का पालन करना चाहें तो उन्हें प्रोत्साहित किया जाय।[11] यह स्वामी विवेकानन्द के अनुसार विकास की प्रक्रिया है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि असली समाजवाद विकास के द्वारा संभव है, क्रान्ति के द्वारा नहीं। यदि भारत में शूद्रों की स्थिति, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मणों की स्थिति के समान हो जाय तो वह पूर्ण समाजवादी राष्ट्र बन जायेगा ।

वेदान्त दर्शन में व्यवहृत आत्म-ज्ञान का मूल्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा सामाजिक उद्देश्य में प्रयुक्त किया गया है। आत्म-ज्ञान को वैयक्तिक मुक्ति के अर्थ में समझना एक संकुचित दृष्टि का परिणाम है, सच्चा आत्मज्ञानी वह है जो समस्त विश्व को भेदों से रहित एकाकार देखता हो। अतः इस कोटि का आत्मज्ञानी ही आदर्श समाजवादी है। उसके लिए राजा और भिखारी, ब्राह्मण और शूद्र में कोई अन्तर नहीं होता। स्वामी जी वास्तविक संन्यासी उसे मानते हैं जो दूसरों की भलाई में संलग्न हो। उनके अनुसार वास्तविक त्याग तो मृत्युप्रेम है, किन्तु इसका अर्थ आत्महत्या नहीं है। त्यागी होना वास्तविक संन्यासी है और दूसरों की भलाई में सतत संलग्न रहना ही सच्चा त्याग है। त्याग को मृत्युप्रेम मानने का स्वामी जी का तात्पर्य है कि व्यक्ति मरणशील है, अतः मृत्यु किसी शुभ उद्देश्य के लिए होनी चाहिए। हमारा सारा कार्य-कलाप, खाना-पीना, जो कुछ भी हम करते हैं- आत्म-बलिदान को ओर बढ़ता रहे।[12] वह शुभ उद्देश्य जिसके लिए उन्होंने आत्मबलिदान तक को उचित एवं आवश्यक माना है, समाज एवं मानवता की सेवा के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। जन्म-मृत्यु के चक्कर से बचने की वैयक्तिक मुक्ति अथवा किसी भी अन्य अर्थ में उसे समझना असमीचीन है। वास्तविकता तो यह है कि समाज-सेवा तथा वैयक्तिक मुक्ति दो विरोधी मूल्य नहीं हैं। लोक-संग्रह के द्वारा भी मुक्ति संभव है, और इस रूप में दोनों एक दूसरे

से संबद्ध मूल्य हैं। इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि हम अपने शरीर का पोषण भोजन से करते हैं, किन्तु इसमें भी कोई अच्छाई नहीं है, यदि हम इसे दूसरों के हित में बलिदान न कर दें। हम अपने मस्तिष्क का पोषण पुस्तकों के अध्ययन से करते हैं, किन्तु इसमें भी कोई अच्छाई नहीं है, यदि हम इसे सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के लिए बलिदान न कर दें अपनी अल्प-आत्मा की सन्तुष्टि की अपेक्षा अपने लाखों भाइयों की सन्तुष्टि हमारे लिए अधिक श्रेयस्कर है।[13] अतएव, हम देखते हैं कि स्वामी जी को दृष्टि में आत्मज्ञानी, सन्त, संन्यासी एक सामाजिक कार्यकर्ता है, न कि समाज का बोझ। संन्यासियों का पराश्रयी रूप उनका भ्रष्ट रूप है, वास्तविक स्वरूप नहीं। वास्तविकता तो यह है कि संन्यासी ही सच्चा सामाजिक कार्यकर्ता है, क्योंकि वह जो भी करता है, सम्पूर्ण समाज के लिए करता है, वैयक्तिक हित साधन के लिए नहीं। उसकी आत्मा सम्पूर्ण समाज, समस्त विश्व की आत्मा से एकाकार हो जाती है। आलसी अथवा निष्क्रिय व्यक्ति कभी भी वास्तविक संन्यासी नहीं हो सकता। संभ्यास कर्मों के त्याग को नहीं वरन् फलों के त्याग को कहते हैं ।

समाजवाद शब्द का प्रयोग सामान्यतः आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धान्त के अर्थ में किया जाता है। किन्तु जिस अर्थ में इसका प्रयोग स्वामी जी ने किया है उसमें यह आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त मानव जीवन के मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों की उन्नति से भी सम्बद्ध है। स्वामी जी का सिद्धान्त समाज के समस्त सदस्यों को केवल समान अधिकार दिलाने की ही बात नहीं करता अपितु समान कर्तव्यों के पालन की भी बात जोड़ देता है। उनका समाजवाद केवल अधिकारों एवं सुविधाओं से संबद्ध नहीं है। वह समाज के विभिन्न अंगों को सुविधा देने के साथ ही कुछ कर्तव्यों के पालन में संलग्न कर देता है। उनका कथन है कि समस्त अशुभ भेद में है, समस्त शुभ समानता में है, जो समस्त वस्तुओं की एकता तथा तदरूपता विद्यमान है।[14]

स्वामी विवेकानन्द ने समाजवाद का विरोध पूंजीवाद से न दिखाकर व्यक्तिवाद से दिखाया है। व्यक्तिवाद का वह रूप जिसका स्वामी विवेकानन्द ने समाजवाद से विरोध दिखाया है, सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद का उद्देश्य पूंजीवाद का विरोध करके एक ऐसे समाज की संरचना करना है जिसके किसी भी सदस्य के पास कोई भी व्यक्तिगत उत्पादक सम्पत्ति न हो। स्वामी जी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के पक्ष में हैं, किन्तु उनका आधार अलग है। उन्होंने समानता की शिक्षा दी है, और स्वामी विवेकानन्द की समाजवादी दृष्टि बार-बार भारतीयों को इस बात की चेतावनी दी है कि उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि लाखों अशिक्षित तथा गरीब लोग उनके भाई एवं बहन हैं, तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए उन्हें अपने सुखों का त्याग करना चाहिए ।

वैज्ञानिक समाजवाद के साथ स्वामी जी के इन विचारों की तुलना करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि क्या मार्क्स के विचार पूर्णतया निर्दोष है ? क्या वैज्ञानिक समाजवाद समस्त सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों के लिए रामबाण है ? इन प्रश्नों का उत्तर अब पर्याप्त सरल है वैज्ञानिक समाजवाद स्वयं दोषपूर्ण है। आधुनिक काल में अनेक समाजवादी तथा साम्यवादी राज्यों की स्थापना हो चुकी है। उन राज्यों में भी सामाजिक तथा आर्थिक भेद विद्यमान हैं। संसार के सबसे महान साम्यवादी राज्य सोवियत रूस में लोगों के जीवन स्तर में भारी अन्तर है। यही बात चीनी समाज के लिए भी सत्य है। इससे यह प्रमाणित होता है कि वैज्ञानिक समाजवाद समस्त सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों के लिए रामबाण नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह सिद्धान्त समाज पर बलपूर्वक आरोपित किया गया है। इसके अन्तर्गत लोगों को वैयक्तिक सम्पत्ति

बलपूर्वक जब्त कर ली जाती है और न चाहने पर भी उन्हें अपने व्यक्तिगत सुखों का परित्याग करने के लिए बाध्य किया जाता है। स्वामी विवेकानन्द के समाजवाद की स्थापना में आन्तरिक शक्ति का प्रयोग होता है, बाह्य बल का नहीं। लोग अपने सुखों तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का त्याग अन्तरात्मा की पुकार पर या नैतिक आधार पर करते हैं, न कि शासम-दण्ड के भय से। यहाँ बल प्रयोग तथा जब्तीकरण निरर्थक हो जाते हैं ।

सामान्य विचारकों को वेदान्त तथा समाजवाद दो विरोधी सिद्धान्त लग सकते हैं। अनेक पक्ष ऐसे हैं, जहाँ ये परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। समाजवाद मुख्यतः भौतिक सिद्धान्त है, जबकि वेदान्त आध्यात्मिक। पहला मुख्य रूप से संसार (इहलोक) से संबद्ध है तो दूसरा परलोक से। पहला प्रमुखतः अर्थ से संबद्ध है तो दूसरा मोक्ष से। अतः दोनों सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। समाजवाद का अपना एक स्वरूप है, इसके कुछ बुनियादी सिद्धान्त हैं, यह जीवन और उसकी भौतिक उपलब्धियों से अनिवार्यतः जुड़ा है, और वेदान्त एक शुद्ध अध्यात्मवादी सिद्धान्त होने के कारण किसी भी रूप में समाजवाद के समान नहीं माना जा सकता। किन्तु ये भेद केवल आभासी हैं, वास्तविक नहीं। वेदान्त और समाजवाद दोनों के एक ही उद्देश्य हैं। वेदान्त को केवल परलोक से संबद्ध सिद्धान्त मानना असमीचीन है। वेदान्त निश्चित ही आध्यात्मिक सिद्धान्त है, साथ ही वह भौतिक जगत् के मूल्यों का आध्यात्मीकरण करने का प्रयास करता है। समाजवाद एक भौतिक सिद्धान्त होने के कारण मनुष्य के सांसारिक जीवन की समानता को अपना विषय बनाता है, किन्तु वेदान्त इसके साथ ही मनुष्यों के आध्यात्मिक तादात्म्य पर भी बल देता है। कुछ आलोचकों का कथन है कि वेदान्त जब भौतिक जगत की सत्ता का निराकरण करता है, तब वह समाज और उसके सदस्यों की समानता की बात कैसे करेगा? किन्तु यह आलोचना समीचीन नहीं है। वेदान्त जगत् और समाज की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करता है। वह केवल यह कहता है कि यही समाज अन्तिम सत्ता नहीं है। इसके परे भी सत्ता है, जो परम सत् हैं। समाजवाद मानव जीवन के निम्न मूल्यों का विवेचन करता है, किन्तु वेदान्त इन मूल्यों के साथ ही धर्म और मोक्ष को भी स्वीकार करता है और यह भी कहता है कि अन्तिम मूल्य के लिए अन्य समस्त मूल्य साधन हैं। साधन के रूप में भौतिक मूल्यों का भी महत्व है। समाजवाद द्वारा स्वीकृत निम्न मूल्यों में मानव जीवन के उच्च मूल्यों को जोड़कर वेदान्त उसे पूर्ण बनाने का प्रयास करता है।

स्वामी विवेकानन्द का विचार था कि मानव समाज का शासन विभिन्न जातियाँ क्रमशः करती हैं। मानव समाज क्रमशः पुजारी वर्ग (ब्राह्मण), योद्धा (क्षत्रिय), व्यापारी वर्ग (वैश्य), तथा मजदूर (शूद्र) वर्ग द्वारा शासित होता है।[15] अब वह समय आ गया है जबकि अन्तिम (मजदूर) वर्ग के शासन की स्थापना होगी। अनेक समाजवादी विचारकों ने भी यही बात कही। है। उनके अनुसार भी मजदूरों को ही शासक होना चाहिए। यही वह वर्ग है। जो समाज के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाता है। यही वर्ग वास्तविक उत्पादक वर्ग है। अतएव शासन का अधिकार भी इसी वर्ग को है। इस प्रकार। स्वामी जी ने अपने विकास की व्याख्या करते हुए यह प्रदर्शित किया कि मजदूर वर्ग के उत्थान का समय आ गया है। वे ही समाज के भावी शासक हैं। स्वामी जी के इन विचारों में उनके वेदान्ती समाजवाद की झलक मिलती है।

वेदान्त दर्शन के उन मूल्यों को जो प्राचीन काल में व्यक्तिगत मोक्ष के साधन थे, स्वामी जी ने समाज के उत्थान के हेतु प्रयुक्त किया है। वेदान्त के मोक्ष की अवधारणा को उन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के रूप में परिवर्तित कर दिया। त्याग अथवा संन्यास का प्रयोग उन्होंने समाज की सेवा के लिए किया। है। अभेद के सिद्धान्त का प्रयोग उन्होंने सामाजिक समानता तथा एकता के लिए

किया है। स्वामी जी के अनुसार संन्यासी सच्चा समाजसेवक है, क्योंकि वास्तविक सन्यासी वह है जो अपने हितों का त्याग समाज के लिए कर दे। समाज ईश्वरीय है। वह मानव की एकता और अखंडता की मूर्ति है ।

कुछ आलोचक यहाँ कह सकते हैं कि धर्म और मोक्ष का मानव जीवन में गौण महत्व है और वेदान्त इसको ही प्रमुख स्थान देता है, अतः वेदान्त समाज के केवल गौण सिद्धान्तों का ही विचार करता है। उनके अनुसार मुख्य महत्व तो अर्थ और काम का है; ये ही मानव जीवन की मूल आवश्यकताएँ हैं। किन्तु इस समस्या पर ध्यान से विचार करने पर ज्ञात होता है कि जिसे यहाँ गौण कहा जा रहा है वह वास्तव में प्रमुख ही है। धर्म और मोक्ष परम साध्य हैं। साध्य को साधन के समान महत्व देना ही पड़ेगा। उच्च मूल्यों का महत्व मानव जीवन में निरन्तर बना रहता है। मानव जीवन पशु-जीवन से श्रेष्ठतर है। इसी कारण केवल भोजन और कपड़ा से उसका सम्यक् पोषण सम्भव नहीं है। उनके अतिरिक्त भी उसे कुछ और चाहिए। मानव समाज ही सर्वोच्च मूल्यों का आवास बनने में समर्थ है। स्वामी जी ने कहा है कि वही समाज महान है जिसमें उच्चतम सत्यों को व्यवहार में लाया जा सके। यदि कोई समाज इन उच्चतम सत्यों के पालन में असमर्थ है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसे यथाशीघ्र इस योग्य बनायें।[16] यह उच्चतम सत्य मानव जीवन का उच्चतम मूल्य हैं, और यही मूल्य किसी समाज को महान बना सकता है। समाज को योग्यता प्रदान करने के लिए परिवर्तन आवश्यक है। स्वामी जी की दृष्टि में परिवर्तन विकास का सर्वोत्तम उपाय है। परिवर्तन और सामंजस्य हमारे समाज की आवश्यकताएँ हैं।

यह परिवर्तन समाज के स्वभाव अथवा उसको प्रकृति में ही निहित होता है। समाज स्वभावतः परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तन का अर्थ गतिशीलता है, रूपपरिवर्तन नहीं। इतना बुरा कुछ नहीं है जिसका रूप परिवर्तन आवश्यक हो। अनुकूलनशीलता में ही जीवन का समस्त रहस्य छिपा है, और इसी शक्ति से इस रहस्य को जाना जा सकता है। दमनकारी बाह्य शक्तियों से दबी आत्मा से ही सामंजस्य या अनुकूलन का उद्भव होता है। सर्वोत्तम प्रकार का सामंजस्य स्थापित कर लेता है, वह सर्वाधिक जिवित रहता है।[17]

समाज का भाव इस प्रकार का परिवर्तन स्वाभाविक रूप से हो रहा है। रूप जो झलकता है उसमें समस्त सदस्य समानता का आनन्द ले सकेंगे समाज के समस्त सदस्य जीवन के सभी क्षेत्रों में समान होंगे। स्वामी जी के समाजवाद में, वैज्ञानिक समाजवाद से आगे बढ़कर, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों समानताओं को आदर्श माना गया है। मनुष्य यदि केवल भौतिकता एवं उसकी उपलब्धियों तक सीमित रहे तो उसका जीवन नारकीय हो जायेगा। अतः वेदान्त द्वारा किए गये सुधार को वैज्ञानिक समाजवाद को भी मानवता के हित में मानना पड़ेगा। जीवन को पूर्णता प्रदान करने के लिए आध्यात्मिकता को स्वीकार करना पड़ेगा। सामाजिक चिन्तन में इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण नहीं छोड़ा जा सकता। स्वामी जी ने कहा है कि मनुष्य सदैव भौतिकता के विषय में नहीं सोच सकता चाहे यह कितना भी सुखद क्यों न हो।[18] सांसारिक सम्पत्ति तथा उसकी समानता मानव समाज का आदर्श नहीं बन सकतीं। वैज्ञानिक समाजवाद का सबसे बड़ा दोष यही है कि उसमें इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के लिए कोई स्थान नहीं है। भौतिकता के साथ वह आदि से अन्त तक जुड़ा रहता है। अतः वह मानवता को पूर्णता की ओर नहीं ले जा सकता। उसे सुधार की अपेक्षा है और वह सुधार वेदान्त प्रदान करता है ।

विवेकानन्द के विचार सराहनीय हैं, विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ उन्होंने वेदान्त के संप्रत्ययों का सामाजिक चिन्तन में उपयोग किया है। अन्य विचारकों से सिद्धान्तों की ही तरह उनके भी

विचार पूर्ण नहीं है। उनके विचार राजनैतिक कार्यों के लिए प्रेरक न होकर राजनैतिक चिन्तन एवं कार्यों के विकल्प के रूप में कहे गए हैं।[19] किन्तु यह आलोचना केवल अंशतः ही सत्य हैं। वे वास्तव में राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे एक सन्त थे और सामाजिक विचारक भी। उनके विचारों ने भारत के राजनैतिक जगत् को प्रभावित किया या नहीं, यह विवाद का विषय है, किन्तु यदि न भी प्रभावित किया हो तो उन सिद्धान्तों की सत्यता पर कोई असर नहीं पड़ता।

यद्यपि उनके समाजवादी विचार अपूर्ण हैं तथापि वेदान्त के उच्च मूल्यों का, धर्म एवं मोक्ष का, सामाजिक चिन्तन में उन्होंने सफलतापूर्वक उपयोग दिखाया है। उनके वेदान्ती तथा समाजवादी दोनों एकसाथ होने में कोई बाधा नहीं है। उनके विचारों में अध्यात्मवाद तथा समाजवाद का सुन्दर समन्वय है। वर्तमान काल में समाजवाद मार्क्सवाद से आगे बढ़ चुका है। भारत में निश्चय हो यह अज्ञेयवाद, धर्मनिरपेक्ष राजनीति तथा व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता जैसे कुछ वेदान्तिक विचारों से प्रभावित हुआ है। स्वामी जी के विचारों में इस विकास का बीज आसानी से देखा जा सकता है। वेदान्तिक अभेदवाद और समत्वदर्शन समाजवाद के संबद्धक तत्त्व हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म, विवेकानन्द अद्वैत आश्रम मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय 1970, प्रस्तावना पृ0 1
2. वही पृ0 5
3. वही पृ0 5
4. वही पृ0 10
5. कम्प्लीट वर्क्स आफ विवेकानन्द, विवेकानन्द अद्वैत आश्रम मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय खण्ड 3 पृ0 372
6. काण्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म, विवेकानन्द अद्वैत आश्रम मायावतीं, अल्मोड़ा, हिमालय 1 - 70, प्रस्तावना पृ0 6-10
7. दिनमान, सितम्बर 12-18, 1976 लेख प्रभा दीक्षित पृ 20 सम्पा0 रघुवीर सहाय टाइम्स आफ इण्डिया प्रकाशन, 10 दरियागंज, , नई दिल्ली ।
8. कम्प्लीट वर्क्स आफ विवेकानन्द, विवेकानन्द अद्वैत आश्रम मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय, 1948, खण्ड 3 पृ0 369-370
9. वही पृ0 370
10. वही पृ0 265
11. वही पृ0 295-296
12. वही पृ0 446
13. वही पृ0 446
14. कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म, विवेकानन्द मत आश्रम मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय, 1670, प्रस्तावन पृ0 10
15. बही पृ0 75
16. कमप्लीट वर्क्स आफ विवेकानन्द, विवेकानन्द अद्वैत आश्रम मायावती अल्मोड़ा, हिमालय, 1655, खण्ड 2, पृ0 85
17. वही खण्ड 6, 1656, पृ0 110
18. वही खण्ड 2, पृ0 64
19. दिनमान 12-15 सितम्बर लेख- प्रभावी क्षित पृ020, सम्पादक रघुवीर सहाय, टाइम्स आफ इण्डिया प्रकाशन, 10 दरियागंज, नई दिल्ली।

सार्त्र (द क्रिटीक ऑफ़ डायलेक्टिकल रीजन) में व्यक्ति एवं सामाजिक संबंध : एक विवेचन

डॉ नीलिमा मिश्र

एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग,जगत तारन गर्ल्स,पी.जी. कॉलेज, इलाहाबाद

व्यक्ति और समाज का संबंध अत्यंत जटिल है। परंपरा से इसकी व्याख्या हेतु दो प्रमुख अतिवादी दृष्टिकोण प्रस्तावित किये जाते हैं जिनसे दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी संभवतःपरिचित है। पहला व्यक्ति केंद्रित दृष्टिकोण है जिसमें व्यक्ति (individual) को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है तथा उसे ही केंद्र में रखकर समाज का ताना-बाना बुना जाता है। दूसरे शब्दों में समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिसका लक्ष्य व्यक्ति के निजी विकास में सहयोग देना मात्र है। व्यक्ति से इतर समाज का कोई विकास कोई हित कोई महत्व नहीं हो सकता, यह इस विचारधारा का सार है। विभिन्न व्यक्ति अपने विकास, लाभ व सुरक्षा हेतु परस्पर बाह्य संबंध बना लेते हैं और यही समाज की रुपरेखा है। इस दृष्टिकोण में व्यक्ति की सत्ता, उसकी निजीपन उसकी स्वतंत्रता पर बल दिया जाता है, यह स्पष्ट ही है। सामान्य रूप से वस्तुवादी (Realists) व अर्थक्रियावादी (Pragmatists) विचारक, साथ ही रसेल इस मत के समर्थक हैं। व्यक्तिवादी (Individualistic) व अस्तित्ववादी चिंतक (Existentialists), यथा किर्केगार्ड, हाईडेगर यास्पर्स, कामू, नीत्शे और स्वयं ज्याँ पॉल सार्त्र (बीइंग एंड नथिंगनेस 1943) इत्यादि, विशेष रूप से इस विषय में एक अतिवादी व्यक्ति-केंद्रित दृष्टिकोण का पोषण करते हैं। व्यक्ति और समाज संबंधी यह प्रथम दृष्टिकोण व्यक्ति के अनूठेपन (uniqueness), गरिमा (dignity) मूल्य (value) व स्वतंत्रता (freedom) को सुरक्षित रख पाता है, ऐसा दावा किया जाता है।

व्यक्ति व समाज के संबंधों के प्रति दूसरे प्रमुख दृष्टिकोण के अनुसार, समाज की अपनी चेतना व सत्ता है और व्यक्ति मात्र उसके अंग के रूप में अस्तित्ववान है। इस समाज-केंद्रित अतिवादी मत में समाज व व्यक्ति के बीच क्रमशः अंगी व अंग (Whole and Part) का संबंध माना जाता है। यह व्यक्ति का समाज से एकतरफ़ा ऐसा आंतरिक संबंध है जिसमें समाज से पृथक व्यक्ति का न तो कोई महत्व है और न ही सार्थक अस्तित्व। इस समाज- केंद्रित दृष्टिकोण में समाज व व्यक्ति के अंगी- अंग संबंध को शरीर व शरीर अंगों के रुपक से स्पष्ट किया जाता है। जैसे कोई एक अंग शरीर से अलग हो जाए तो वह अंग नष्ट हो जाता है, वैसे ही व्यक्ति भी अपने अस्तित्व स्वरुप व प्रगति के लिए समाज रुपी शरीर पर आश्रित है और समाज से पृथक उसका कोई जीवन नहीं है। स्पष्ट ही है, यह दूसरा दृष्टिकोण पहले दृष्टिकोण से पूर्णतः उलट है। इस दृष्टिकोण में समाज, समाज की व्यवस्था उसके मूल्य उसका हित ही केंद्र में है और व्यक्ति का समाज से पृथक न तो कोई हित है और न ही कोई मूल्य। हर्बर्ट स्पेंसर, लेज़ली स्टीफ़ेन व सैमुअल अलैक्ज़ेंडर इसी मत के पोषक हैं जिनके अनुसार व्यक्ति का समाज में समायोजन सामाजिक कोशिका का हित[1] अथवा सामाजिक संतुलन ही अंतिम रूप से महत्वपूर्ण है और व्यक्ति इन लक्ष्यों की पूर्ति में मात्र एक सहायक की भूमिका में है।[2] इन विचारकों के अतिरिक्त सामान्य रुप से चैतन्यवादी विचारक (Idealists) भी इसी विचारधारा को स्वीकार करते हैं।

इन दोनों ही विरोधी अतिवादी दृष्टिकोणों की अपनी कठिनाइयाँ हैं। प्रथम व्यक्ति-केंद्रित दृष्टिकोण में यद्यपि व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता अनोखापन व गरिमा सुरक्षित रहती है, मगर अन्य व्यक्ति की स्वतंत्रता उसके अस्तित्व के लिए एक बाधा, एक ख़तरे की भाँति हो जाती है इसीलिए

सौहार्द्रपूर्ण परस्पर संबंधों के अभाव में व्यक्ति अकेलेपन से घिरा रहता है। वह अपनी ही स्वतंत्रता से एक तरह से प्रताड़ित व स्वतंत्रता की ज़िम्मेदारियों से आक्रांत रहता है और यह अत्यंत विषादपूर्ण व व्यथित करने वाली स्थिति है। मगर दूसरा समाज - केंद्रित दृष्टिकोण यद्यपि व्यक्ति को सुरक्षा, पारस्परिक संबंधों से संतृप्त करता, किंतु इसमें व्यक्ति के पृथक अस्तित्व का ही पूर्ण उसकी गरिमा उसकी स्वतंत्रता सभी का विलय हो जाता है जो उसकी महत्ता समापन है। यह दृष्टिकोण इस तथ्य की अनदेखी भी करता है कि वस्तुतः समाज विभिन्न व्यक्तियों का समूह ही है, न कि व्यक्ति से स्वतंत्र कोई सत्ता या चेतना, साथ ही, व्यक्तियों के निजी विकास से ही समाज का विकास होता है, और व्यक्तियों का पतन ही और समाज के पतन का कारण है। इस तरह एक ओर निजी स्वतंत्रता गरिमा व अस्तित्व का बचाव हुआ है मगर उसकी क़ीमत है अकेलापन स्वतंत्रता से उपजी ज़िम्मेदारियों का बोझ और व्यथा, जबकि दूसरी तरफ सामूहिकता है, सुरक्षा है मगर इसके साथ ही निजी व्यक्तित्व का उत्सर्ग हो जाता है।

इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों से इतर व्यक्ति व समाज के संबंधों की व्याख्या करते हुए एक तीसरा दृष्टिकोण भी प्रस्तावित किया जाता है जो किसी न किसी दृष्टि से हीगल के दार्शनिक विचारों से प्रभावित है और जिसे ग्रीन व ब्रेडले सरीखे विचारकों की स्वीकृति मिली है। किंतु अभी यहाँ फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ पॉल सार्त्र के अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द क्रिटीक ऑफ डायलेक्टिकल रीज़न' में प्रस्तावित विचारों की चर्चा की जायेगी जो इस लेख का विषय है।

सार्त्र, जिसे गंभीर व्यक्तिवादी चिंतक के रुप में मान्यता प्राप्त है, ने अपनी पुस्तक 'द क्रिटीक ऑफ़ डायलेक्टिकल रीज़न में अकेले व्यथित व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंधों को स्थापित करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में उसने प्रैक्सिस (Praxis) का विचार दिया जो व्यक्ति के स्वतंत्र कर्मों का ही एक नाम है, यह व्यक्ति की निजी स्वतंत्र क्रिया है।

व्यक्ति जब अपनी भौतिक दशाओं या स्थितियों के प्रति सचेत होता है और उसमें कुछ 'कमी' या 'अभाव' (lack or scarcity) व उस अभाव की पूर्ति की आवश्यकता (need) महसूस करता है तो वह अपने स्वतंत्र कर्म प्रारंभ करता है। सार्त्र के अनुसार, ये कर्म द्वन्द्वात्मक (dialectical) हैं। यह भौतिक दशा यानी 'तथ्य' (fact) एवं उस दशा में कमी महसूस करने के कारण उसमें परिवर्तन करने की इच्छा यानी 'उद्देश्य' (project) के मध्य द्वन्द्व है। अब अपने इस उद्देश्य की पूर्ति (fulfilment of project) से व्यक्ति के 'तथ्य' व 'उद्देश्य' में एक प्रकार से समंवय हो जाता है। इस तरह व्यक्ति के स्वतंत्र कर्म समग्रीकरणात्मक (totalising) हैं [3]। ये कई दृष्टियों से ऐसे हैं। जैसे व्यक्ति की भौतिक दशाओं या परिस्थितियों को व्यक्ति के स्वतंत्र कर्म (praxis) परिपूर्ण करते हैं उसी तरह जब व्यक्ति अपने भीतर किसी अभाव (nothingness) को अनुभव करता है और फिर उसे दूर करने का लक्ष्य बनाता है तो उस लक्ष्य की पूर्ति हो जाने पर स्वयं व्यक्ति को भी परिपूर्ण यानी समग्रीकृत (totalise) करते हैं। ये स्वतंत्र कर्म (praxis) व्यक्ति को उसकी भौतिक दशाओं या जगत से भी जोड़ते हैं क्योंकि यह भौतिक संसार ही है जिसमें व्यक्ति अपने कर्मों को संपादित करता है। पुनः ये कर्म व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों से भी योगीकरण (totalisation) करते हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए सार्त्र का विचार है कि यदि व्यक्ति के स्वतंत्र कर्म (praxis) से संबंधित प्रत्येक चीज़ समग्रीकरण की ओर बढ़ रही है तो व्यक्ति भी अन्य व्यक्तियों के साथ संबंधित हुए बिना यानी अकेला नहीं रह सकता और इस तरह वह एक समष्टि का निर्माण करता है[4]। मगर यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि यह 'अभाव' (lack or scarcity) व 'आवश्यकता' (need)[5] ही है, जिसके कारण व्यक्ति स्वतंत्र कर्म प्रारंभ करता है इसलिए

ये 'अभाव' व 'आवश्यकता' प्रत्येक प्रकार के समग्रीकरण या कि पूर्णत्व की नींव में हैं, यहाँ तक कि दूसरों के साथ उसके योगीकरण में भी। सार्त्र के अनुसार, दूसरों के साथ व्यक्ति के योग सहित सभी प्रकार के समग्रीकरण की स्थितियाँ व्यक्ति की चेतना में विद्यमान शून्यता (nothingness) की अभिव्यक्ति हैं।[6]

व्यक्ति के पारस्परिक संबंध के संदर्भ में सार्त्र संबंधों के उत्तरोत्तर प्रकार की चर्चा भी करता है। उसके अनुसार क्रमवारता का संबंध (Relation of Seriality) वह पहला संबंध है जिसमें व्यक्ति अन्यों के साथ उसी प्रकार से रहता है जैसे एक बॉक्स में अनेक पेंसिलें एक साथ रखी होती हैं। प्रत्येक पेंसिल अपने आप में अकेली है और इसलिए उनका संबंध 'उभयगत एकांतता' (reciprocal solitude) का है जो मात्र एक बाह्य संबंध है और किसी भी प्रकार की सकारात्मकता से शून्य है। बस पकड़ने के लिए बस स्टेशन पर खड़े यात्री भी ऐसे ही एक दूसरे से निर्लिप्त अपनी-अपनी एकांतता में हैं।[7] और चूँकि सबका लक्ष्य केवल एक ही है बस या सवारी गाडी पकड़ना -अतः सभी यात्री एक जैसे ही हैं, तात्पर्य यह कि 'मैं' दूसरा व्यक्ति हूँ और दूसरा व्यक्ति 'मैं' हूँ। तो एक तरह से हम सभी 'विनिमयात्मक' (interchangeable) हैं[8]। यानी हमसे से किसी का कोई अनोखापन या विशिष्टता नहीं है और सब एक-दूसरे जैसे हैं। इस तरह मैं एक व्यक्ति के रूप में अपने निजी अनूठे स्वरुप से पृथक होकर अन्य-सम हो, अपवर्तन (alienation) में आ जाता हूँ क्योंकि बस में चढ़ जाने का लक्ष्य हमें संचालित करता है फलतः हम स्वतंत्र नहीं रहते और स्वतंत्र न होने का अर्थ है अपने अस्तित्व को खो देना। बस में बैठने के समान लक्ष्य के इस क्रमवारता के संबंध' ने न केवल व्यक्ति को अपवर्तित (alienate) किया बल्कि व्यक्ति के सचेत स्वतंत्र कर्म अब को 'निश्चेत–क्रिया' (practico-inert)[9] में बदल दिया यानी कर्म एक तरह से परतंत्र हो गए। इसे इस तरह से समझा जाए। मान लीजिए कि बस के आने के इंतज़ार में खड़े सभी व्यक्तियों के लिए बस में जगह नहीं है। अब प्रश्न है कि कौन तय करेगा कि कौन सा सदस्य अतिरिक्त है और बस में नहीं बैठेगा। देखा जाए तो एकत्रित प्रत्येक सदस्य अतिरिक्त है। इसलिए यह तय करने के लिए कि बस में कौन नहीं बैठेगा और कौन सा व्यक्ति अतिरिक्त है, सभी लोग स्टैंड पर अपने आने के क्रम में एक कतार बना लेते हैं। तो ये बस है जो तय करती है कि उस समूह का कौन सा सदस्य अतिरिक्त है। इस तरह सभी लोग बस से शासित हैं और उनके स्वतंत्र कर्म वस्तुतः 'निश्चेत–कर्म' बन जाते हैं। चूँकि बस में बैठने या न बैठने का निर्णय अब वे स्वयं नहीं लेते, तो वे सभी व्यक्ति निश्चेतन हो जाते हैं, यानी अपनी चेतना से पृथक (alienated)।

पारस्परिक संबंध का एक दूसरा रुप सामने आता है जब एक ख़तरा (danger) वास्तविक ख़तरा (real danger) बस के इंतज़ार में कतार में क्रमवार खड़े लोगों के सामने उपस्थित हो जाए। मान लीजिए कि अचानक पता चले कि बस का किराया दोगुना हो गया है या उन एकत्रित लोगों पर एक बम फेंका गया है। तब तुरंत सारे लोग अपनी-अपनी एकांतता (solitudes) से बाहर आ जाते हैं, चिंतित (concerned) हो जाते हैं और एक समूह (group) बना लेते हैं। अब वे निर्लिप्त तटस्थ 'क्रमवारता के संबंध की भाँति अपने आप में सिमटे कतार में खड़े दूसरे किसी भी व्यक्ति जैसे नहीं रहते बल्कि वे सभी मानों एक तीसरा व्यक्ति बन जाते हैं जो तटस्थ न होकर चिंतित व संलग्न (concerned, involved) है जो समूह के हित के विषय में सोचता है पूरे समूह के लिए एक लक्ष्य तय करता है और समूह को सक्रिय करता है। इस तरह के समूह में जिसे सार्त्र 'संयोजित समूह' (Group-in-Fusion) का नाम देता है, सभी सम्मिलित लोग एक-दूसरे के

साथ एक निजी एकत्व अनुभव करते हैं। अब जो उभयपरता (reciprocity) है, वह आंतरिक है, न कि क्रमवारता के संबंध जैसी बाहरी। अब निजी कर्म एक सामूहिक कर्म में बदल जाते हैं। इस प्रकार के समूह में स्वतंत्रता का पुनरुज्जीवन हो जाता है जो एक सामूहिक (common) स्वतंत्रता है, न कि निजी, अब प्रत्येक सदस्य स्वतंत्रतापूर्वक समूह के क्रिया-कलापों में भाग लेता है। मगर जब समूह के सामने उपस्थित ख़तरा समाप्त हो जाता है तो ऐसा समूह भी भंग हो जाता है, चूँकि यह एक अस्थाई ख़तरे के सम्मुख बना समूह था। अतः व्यक्तियों का यह सामूहिकीकरण या समग्रीकरण भी स्थाई प्रकृति का नहीं होता।

जब समूह किसी अचानक आए ख़तरे को दूर करने के लिए निर्मित न हो बल्कि समूह बनाने का एकमात्र लक्ष्य 'समूह–निर्माण' ही हो[10] तो ऐसा समूह स्थाई हो जाता है। यानी जब समूह अपना लक्ष्य स्वयं हो तो 'स्थाई- समूह' (Group - inPermanence) अस्तित्व में आता है। इसमें प्रत्येक सदस्य इच्छापूर्वक अपनी निजी स्वतंत्रता का समर्पण कर देता है जिससे वह समूह के स्वतंत्र कर्म (praxis) का अनुसरण कर सके। अब वे सभी सदस्य स्वेच्छा से स्वतंत्र विचारपूर्वक अपने-आपको निष्क्रिय बनाते हैं। 'स्थाई – समूह' के सभी सदस्य खुले तौर पर या मन ही मन शपथपूर्वक स्वीकार करते हैं कि वे समूह के स्थायित्व को हानि नहीं पहुँचाएँगे क्योंकि वे समूह को किसी भी मूल्य पर बनाए रखना चाहते हैं। चूँकि यह व्यक्त ढंग से या मन ही मन स्वीकार की गई 'शपथ' (pledge) सभी सदस्यों को एक 'स्थाई- समूह' के रुप में बाँध देती है, इसीलिए सार्त्र इसे 'सशपथ - समूह' (Pledged Group) कहता है। अब इस समूह में सभी व्यक्तियों के परस्पर संबंध बाह्य भी हैं और आंतरिक भी। शपथ एक बाह्य व कृत्रिम ढंग है तो उसके द्वारा अपने को अन्य व्यक्तियों या समूह से इस, जोड़ना संबंध का बाह्य रुप है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति समूह को किसी भी मूल्य पर किसी भी चीज़ का त्याग करने निजी बनाए रखना चाहता है और उसके लिए भी स्वतंत्रता का त्याग करने के लिए उत्सुक है तो इस दृष्टि से यह आंतरिक भी है। यहाँ सार्त्र 'भय' (Fear or Terror) और हिंसा (Violence) के विचार भी प्रस्तावित 'अवमूल्य' करता है और उसका मानना है कि यदि मैं अपने किसी कार्य से समूह को धोखा देता हूँ या उसे नुकसान पहुँचाता हूँ तो मुझे हिंसात्मक रूप से दंडित किया जा सकता है। हिंसात्मक दंड का भय समूह की अखंडता उसके अस्तित्व को बचाए रखता है। चूँकि समूह के समक्ष उस समूह के परे या बाहर कोई लक्ष्य तो है नहीं, अतः अन्य कोई वास्तिविक भय या ख़तरा भी समूह के सामने नहीं है अतः समूह को बचाए - बनाए रखने के लिए एक प्रकार के भय को खोज लिया जाता है।[11] तदनुसार 'निष्ठा' (loyalty) व 'धोखा (treason) अब क्रमशः 'मूल्य' (value) व (disvalue) 'अवमूल्य' बन जाते हैं। मुझे समूह के प्रति निष्ठावान होना चाहिए और उसे धोखा नहीं देना चाहिए। और जो भी धोखा देगा उसे दण्डित किया जायेगा। इस तरह मैं अपनी स्वतंत्रता का त्याग करता हूँ ताकि दूसरों के ऊपर कुछ अधिकार रख सकूँ और दूसरे भी अपनी स्वतंत्रता को छोड़ते हैं और मेरे ऊपर कुछ अधिकार (दंड देने का) रखते हैं। यहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है क्योंकि व्यक्ति अपनी मर्जी से उसका परित्याग करता है। ऐसे बना समूह स्थाई-समूह (Group-in-Permanence) कहलाता है, जिसमें व्यक्ति समूह के लिए कार्य करता है, समूह के अनुसार कार्य करता है और समूह हेतु ही कार्य करता है, किसी अन्य चीज़ के लिए नहीं। इस तरह के समूह में सभी व्यक्तियों का समग्रीकरण (Totality) प्राप्त हो जाता है। इस तरह का समूह जब एक बार बन जाता है तो वह एक संस्था (institution) बन जाता है जिसके कुछ नियम होते हैं और जिसमें कुछ विशिष्ट कार्य सदस्यों के लिए निश्चित होते हैं। इस तरह

सार्त्र अकेले अलग-थलग पड़े व्यक्ति को व्यक्तियों के एकत्व यानी पूर्णत्व की ओर ले आता है। सार्त्र का विचार है कि चूँकि इस समूह के मूल में निजी स्वतंत्र कर्म (praxis) हैं तो व्यक्ति या उसकी स्वतंत्रता की भी रक्षा हो जाती है और पारस्परिक संबंधों की एक ऐसी स्थिति भी प्राप्त हो जाती है जो एक संमवित सामंजस्यपूर्ण समाज है।

सार्त्र का यह विचार एक तरह से समाज या अन्य व्यक्तियों से अलग, एकाकी, व्यथित मगर स्वतंत्र व्यक्ति तथा समाज के एक अंग मात्र के रूप में स्वीकृत निजता व विशिष्ट व्यक्तित्वहीन जीव दोनों के बीच का एक तीसरा दृष्टिकोण प्रतीत होता है जिसमें दावा किया जाता है कि व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता व सम्मान भी सुरक्षित है और वह अकेला भी नहीं है।

मगर देखा जाए तो व्यक्ति व अन्यों से सामंजस्य यानी समाज संबंधी यह तीसरा दृष्टिकोण उस दूसरे दृष्टिकोण का ही एक रुप प्रतीत होता है जिसमें व्यक्ति समाज पर आश्रित है और उसका न तो कोई स्वतंत्र अस्तित्व है और न ही कोई गरिमा। व्यक्ति भले ही अपनी स्वतंत्र इच्छा से स्वयं को समूह में विलीन कर दे मगर एक बार ऐसा हो जाने पर फिर उसकी स्वतंत्रता बचती नहीं, क्योंकि अब उसके अपने निजी मूल्य अपने उद्देश्य अपने आदर्श अपने सत्य कोई महत्व या स्थान नहीं रखते और अब वह इन्हें एक बाहरी संस्था से बना बनाया प्राप्त करता है और उन्हें स्वीकार करने के लिए वह बाध्य है। अब समूह ही अंतिम लक्ष्य है और हिसात्मक दंड के भय से व्यक्ति इस लक्ष्य से पृथक कोई अन्य लक्ष्य नहीं बना सकता। इस तरह व्यक्ति व उसकी स्वतंत्रता समूह में समाहित व तिरोहित हो जाती है। मेरी वॉरनॉक ने सार्त्र के इस विचार के प्रति अपनी निराशा व्यक्त करते हुए कहा कि 'यदि व्यक्ति को मरना ही है तो भी उसके इस तरह मरने को नापसंद न करना असंभव है।''[12] अब व्यक्ति स्वतंत्र नहीं, उसकी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं। एक स्वतंत्र कर्म से वह समूह में प्रवेश करता है मगर ऐसा करते ही उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। भय व हिंसा उसकी स्वतंत्रता को बाधित करते हैं और समूह उसको निर्देशित करता है। तो एक तरह से सामंजस्यपूर्ण संबंधों की कीमत व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता अपने अस्तित्व का त्याग करके चुकानी पड़ती है।

यह स्थिति ऐसा प्रदर्शित करती प्रतीत होती है कि व्यक्ति व समाज में से एक ही बच सकता है : या तो अपने पूर्ण ऐश्वर्य व गौरव - गरिमा के साथ व्यक्ति अथवा समाज।

सार्त्र और उस जैसा दृष्टिकोण रखने वाले सभी विचारकों यथा हीगल, टी. ब्रैडले इत्यादि ने संभवतः ग़लती यह की है कि उन्होंने व्यक्ति के अन्य 'एच. ग्रीन ' व्यक्तियों से संबंध अर्थात् समाज को एक कृत्रिम ढंग से स्थापित करने का प्रयास किया है। दूसरे शब्दों में, इन विद्वानों का विचार है कि पारस्परिक संबंध स्थापित करना एक सोचा–समझा या संकल्पत (willfully decided) योजनागत बाह्य प्रयास है। यदि इसे प्राकृतिक ढंग से सहज ढंग से स्थापित किया जा सकता तो शायद व्यक्ति को अपना निजीपन अपना व्यक्तित्व व स्वतंत्रता न खोनी पड़ती। इस संदर्भ में अरस्तू के 'यूडायमोनिया' के विचार को प्रस्तुत किया जा सकता है। अरस्तू ने 'यूडायमोनिया' को मनुष्य के 'स्व या चेतना का व्यापार' कहा है जो उसकी क्षमताओं की श्रेष्ठतम सिद्धि या परिपूर्ति है। यदि व्यक्ति में एक से ज्यादा क्षमताएँ हैं तो जो सर्वोत्तम है, उसका उत्कृष्टतम विकास ही 'यूडायमोनिया' है।[13] वस्तुतः 'यूडायमोनिया' से ही 'एनर्जी' (energy) शब्द बना है जिसका भावार्थ है 'सक्रिय कार्य - व्यापार'। इस तरह 'यूडायमोनिया का संबंध मनुष्य के रूप में व्यक्ति के स्वरुप व उसकी क्षमताओं के विकास रुपी सक्रिय कल्याणकारी अवस्था में निहित है और व्यक्ति के' स्वरुपगत कार्य-व्यापार हैं उसकी 'बौद्धिकता' (Rationality)

व 'सामाजिकता' (Sociality)[14] 'बौद्धिकता' उसके निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व (Personality) में अभिव्यक्त होती है और सामाजिकता' अन्य व्यक्तियों के साथ (Harmonious Relations) सामंजस्यपूर्ण संबंधों में विकसित होती है।

अरस्तू के अनसुार मनुष्य एक पराजैविक (Supra Organic) सत्ता है जिसके स्वरूप में ही स्वतंत्रता व समाज से सामंजस्य दोनों ही हैं। अब चूँकि ये दोनों उसके स्वरुप के सारभूत लक्षण हैं तो उसे दोनों ही अवस्थाएँ बनाये रखने की आवश्यकता नहीं होती और दोनो ही में किसी को तिलांजलि देने की आवश्यकता नहीं होती और दोनों ही पुष्पित - पल्लवित हो सकती हैं। वस्तुतः ऐसा कर लेने में ही व्यक्ति की पूर्णता व उसका कल्याण है। यह एक ऐसी आदर्श अवस्था है जहाँ न तो व्यक्ति गरिमा स्वतंत्रता व वंचित निजी अनूठे व्यक्तित्व से रहित है और न ही एकाकीपन से उद्वेलित। दोनों का साथ-साथ संवर्द्धन उसके स्वरुप का मूलभूत लक्षण है। उसका स्वरूप है ही ऐसा कि वह एक साथ दोनों हो सकता है स्वतंत्र व सामाजिक।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चटर्जी, फणीभूषण, 12वाँ संस्करण 1945 प्रिंसिप्ल्स ऑफ इथिक्स (2 खंड), दि ऑथर, 32, बीडन स्ट्रीट कोलकाता; पृ. 187 '
2. वही, पृ. 188
3. सार्त्र 7 ज्याँ पॉल 1960, द क्रिटीक ऑफ डायलेक्टिकल रीज़न अंग्रेज़ी ऊ अनुवाद : शेरिडन स्मिथ, 1976, वरसो लंदन; पृ. 47
4. वही; पृ. 50 – 1
5. वही; पृ. 80
6. यह शून्यता का विचार एक तरह से बौद्ध दर्शन के एक प्रकार 'शून्यवाद' की याद दिलाता सा प्रतीत होता है। वैसे सार्त्र का चेतना की 'नथिंगनेस' हो सकता
7. (Nothingness) का विचार शंकराचार्य के 'निर्गुण चैतन्य' से भी तुलनीय है। वही; पृ. 256
8. वही; पृ. 260
9. वही; पृ. 264-5
10. कमिंस, आर.डी. (संपादक), 1965 द फिलॉसॉफ़ी ऑफ ज्याँ पॉल सार्त्र रैंडम हाउस, न्यू यॉर्क : पृ. 472-3
11. लेइंग और कूपर 1979 रीज़न एंड वॉयलेंस टेविस्टॉक पब्लिकेशन, लंदन : पृ. 136
12. वॉरनॉक मेरी 1965 द फिलॉसॉफी ऑफ़ सार्त्र हचिसन एंड कं. लि., लंदनः पृ. 150
13. अरस्तू नाइकोमेकियन इथिक्स बुक 1 7 (1098)
14. यह सर्वविदित है कि अरस्तू ने मनुष्य को एक विवेकपूर्ण (बौद्धिक) प्राणी के रुप में परिभाषित किया है, साथ ही सामाजिक प्राणी के रूप में भी।

यूथेनेसिया का नीतिशास्त्र

(The Ethics of Euthanasia)

डॉ0 अभिषेक कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, गनपत सहाय पी0जी0 कॉलेज, सुल्तानपुर, उ0प्र0

प्रस्तावना

दार्शनिक विमर्श के अन्तर्गत यूथेनेसिया और इसके विभिन्न रूपों की नैतिक और विधिक अवस्थिति प्रायः बहस के केन्द्र में होती है। यूथेनेसिया प्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन से जुड़ा विषय है, इसलिए इस पर चर्चा करना महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत शोध आलेख तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में यूथेनेसिया से संबंधित विभिन्न पारिभाषिक शब्दावलियों का अर्थ स्पष्ट किया गया है। दूसरे भाग में सक्रिय और निष्क्रिय यूथेनेसिया की नैतिक उपयुक्तता पर विचार किया गया है। वहीं तीसरे और अन्तिम भाग में यूथेनेसिया के पक्ष और विपक्ष में दिए गए विभिन्न तर्कों का परीक्षण कर उसकी नैतिक और विधिक स्वीकार्यता पर विचार किया गया है, जिसमें महत्वपूर्ण रूप से यह उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है कि विशेष परिस्थितियों में यूथेनेसिया (सक्रिय अथवा निष्क्रिय) उचित है।

(I)

यूथेनेसिया का मुद्दा तब उठता है जब 42 वर्षों तक आहार नली के सहारे मौत से बदतर जिन्दगी जीने वाली अरुणा शानबाग को शान्तिपूर्ण मृत्यु दिलाने के लिए मानवाधिकार कार्यकर्त्री पिंकी वीरानी ने आवाज उठाई। यह मुद्दा तब उठता है जब न्यूजीलैण्ड के फोरेंसिक वैज्ञानिक सीन डेविडसन को हिरासत में ले लिया जाता है, क्योंकि उन्होने एक असाध्य रोग से पीड़ित 85 वर्षीय वृद्धा के निवेदन पर मॉर्फीन की गोलियां पानी में घोलकर उनको पीने के लिए दे दी थी।

इस विषय पर अग्रेतर चर्चा के क्रम में सर्वप्रथम प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करना समीचीन होगा।

सहायता प्रदत्त आत्महत्या (Assisted Suicide) : किसी की सहायता से की गई आत्महत्या सहायता प्रदत्त आत्महत्या कही जाती है। जैसे, अमेरिका में चिकित्सकों की सहायता से की गई आत्महत्या जिसमें प्राणघातक दवाएं दी जाती हैं, उसे वैध माना जाता है। स्विट्जरलैण्ड में कोई भी नागरिक कानूनी रूप से आत्महत्या में सहायता प्राप्त कर सकता है, एक स्विस चिकित्सक एक चिकित्सक के रूप में आत्महत्या करने में सहायता नहीं कर सकता है, लेकिन एक निजी व्यक्ति के रूप में ऐसा कर सकता है। परन्तु वास्तव में चिकित्सक की सहायता से की गई आत्महत्या किसी व्यक्ति की सहायता से की गई आत्महत्या से बेहतर है।

यूथेनेसिया (Euthanasia)- यूथेनेसिया को सामान्यतः इच्छामृत्यु कहा जाता है। अगर कोई व्यक्ति किसी असाध्य रोग से गंभीर रूप से पीड़ित है या कई वर्षों से कोमा की हालत में है तो वह स्वयं (यदि शारीरिक-मानसिक रूप से सक्षम है) या सक्षम न होने पर उसके सगे संबंधियों द्वारा उसकी मृत्यु की मांग की जा सकती है। Euthanasia दो शब्दों से मिलकर बना है- *eu* और *thonatos*. *eu* का अर्थ है- *Good* (अच्छा) और *thonatos* का अर्थ है- *Death* (मृत्यु)।[1] इस प्रकार यूथेनेसिया का अर्थ है- अच्छी मृत्यु। अब प्रश्न यह है कि अच्छी मृत्यु के मानदण्ड क्या हैं? इसका मानदण्ड यह हो सकता है कि कि मृत्यु जल्दी, अपेक्षाकृत कम दर्द वाली और डर, संताप, या पछतावा जैसे मनोवैज्ञानिक दुखों को न्यूनतम् उत्पन्न करे। हत्या का

उद्देश्य दण्डित करना नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए सिर कटना एक तीव्र और अपेक्षाकृत कम दर्द वाली मृत्यु है, परन्तु यह भयानक है, इसका उद्देश्य भय पैदा करना है, इसलिए इसे यूथेनेसिया नहीं माना जायेगा। यूथेनेसिया का एक विशेष उद्देश्य होता है। यूथेनेसिया के लिए सबसे महत्वपूर्ण चीज दया है। कभी कभी इसे दयामृत्यु ही कहा जाता है। हेरॉल्ड शिपमैन जोकि एक ब्रिटिश चिकित्सक और सीरियल किलर था, उसने अपने सनकपन में कई बुजुर्ग मरीजों को नशीली दवाएं दे के मार दिया। इस घटना में हो सकता है कि वह कई बुजुर्ग मरीजों को कष्ट से राहत दे दिया हो, परन्तु यह हत्या कही जायेगी, दयामृत्यु नहीं। क्योंकि उसका उद्देश्य गलत था।

यूथेनेसिया के प्रकार- इसका वर्गीकरण दो आधार पर किया जाता है-प्रथम के अनुसार यह तीन प्रकार का है- ऐच्छिक यूथेनेसिया (Voluntary Euthanasia), गैर-ऐच्छिक यूथेनेसिया (Non-voluntary Euthanasia) और अनैच्छिक यूथेनेसिया (Involuntary Euthanasia)।

ऐच्छिक यूथेनेसिया (Voluntary Euthanasia) : जब व्यक्ति स्वयं अपने लिए यूथेनेसिया का निर्णय लेता है, तो यह ऐच्छिक यूथेनेसिया कहा जाता है।

गैर-ऐच्छिक यूथेनेसिया (Non-voluntary) :जब व्यक्ति स्वयं यूथेनेसिया का निर्णय लेने के योग्य नहीं होता है। जैसे- एक कोमा में गया व्यक्ति या कोई बहुत छोटा बच्चा। तो ऐसी स्थिति में उनकी तरफ से कोई उपयुक्त व्यक्ति निर्णय लेता है।

अनैच्छिक यूथेनेसिया (Involuntary Euthanasia) : अनैच्छिक यूथेनेसिया की स्थिति तब आती है, जब मरने वाला व्यक्ति जीना चाहता है। वैसे तो इसे हत्या कहा जायेगा, पर कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आती है, जब उसे मारना उसके लिए हितकर साबित होता है, भले ही वह जीना चाहता है।

दूसरे वर्गीकरण के आधार पर यह दो प्रकार का है- सक्रिय यूथेनेसिया (Active Euthanasia) और निष्क्रिय यूथेनेसिया (Passive Euthanasia)

सक्रिय यूथेनेसिया (Active Euthanasia) : किसी रोगी को सक्रिय तरीके से मारना, जैसे-कोई जानलेवा इंजेक्शन या दवा देकर मारना।

निष्क्रिय यूथेनेसिया (Passive Euthanasia): निष्क्रिय यूथेनेसिया मे जानबूझकर मरीज को मरने के लिए छोड़ दिया जाता है। जैसे-कोई मरीज यदि वेंटीलेटर पर है या आहार नली पर आश्रित है तो उसे हटा लेना।

(II)

ध्यातव्य है कि सक्रिय और निष्क्रिय यूथेनेसिया को क्रमशः मारना (Killing) और मरने के लिए छोड़ देने (Letting Die) के रूप में भी देखा जाता है। प्रश्न उठता है कि दोनों में क्या अन्तर है? कभी-कभी यह बात उठती है कि इन दोनों में नैतिक रूप से कौन ज्यादा सही है? इसके लिए जेम्स रॉशेल्स (James Rachels) का एक चर्चित उदाहरण है[2], जिसके दो परिदृश्य हैं-

पहला परिदृश्यः इसमें स्मिथ नाम का व्यक्ति यह चाहता है कि कुछ ऐसा हो जाय जिसमें कि उसके 6 वर्षीय चचेरे भाई की मृत्यु हो जाय और एक बड़ी जायजाद उसके हाथ लग जाय। एक शाम जब वह 6 वर्ष का बच्चा नहा रहा था तो स्मिथ बाथरूम में चुपके से घुस जाता है

और बच्चे को डुबाकर मार देता है, फिर सबकुछ ऐसे व्यवस्थित कर देता है जैसे यह एक दुर्घटना लगे।

दूसरा परिदृश्यः जोंस नाम के व्यक्ति की भी यही इच्छा है कि अगर उसके 6 वर्षीय चचेरे भाई की मृत्यु हो जाय और एक बड़ी जायजाद उसके हाथ लग जाय। जोंस भी स्मिथ की ही तरह ही उसे डुबाकर मारने की योजना में लग जाता है। खैर जब वह बाथरूम में घुसता है तो देखता है कि वह बच्चा सरक जाता है, जिससे उसके सिर में चोट लग जाती है और वह मुंह के बल पानी में गिर जाता है। धीरे धीरे वह पूरी तरह डूबता जाता है, स्मिथ देखता रहता है और कुछ नहीं करता।

इन दोनों परिदृश्यों को देखने के अलग-अलग नजरिए हैं। कई विचारक ऐसा मानते हैं कि हमारा नैतिक प्रतिभान स्मिथ और जोंस के कृत्य में कोई महत्वपूर्ण नैतिक अन्तर नहीं कर पाता। लेकिन कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि मारना, मरने देने से ज्यादा गलत है। हो सकता है कि यह बात उपर्युक्त दोनों परिदृश्यों से स्पष्ट न हो लेकिन किसी की हत्या कर देना, किसी बेघर को भूख से मरते देख कुछ न करने से ज्यादा बुरा हैं। इसी तरह किसी की सम्पत्ति बर्बाद करना, किसी की बर्बाद होती सम्पत्ति को देखते रहने से नैतिक रूप से अधिक बुरा है। इस तर्क को इस रूप में भी रखा जा सकता है कि जानबूझकर किसी को नुकसान पहुंचाना और जानबूझकर नुकसान होने देना दोनों गलत हैं, परन्तु पहली स्थिति ज्यादा गलत है। वास्तव में मेरा ऐसा मानना है कि जब किसी को नुकसान करने के इरादे से हत्या की जाय या मरने के लिए छोड़ दिया जाय तो दोनों बातें नैतिक रूप से गलत हैं, लेकिन कहीं न कहीं हत्या करना, मरने देने से अधिक बुरा है। और जब बात यूथेनेसिया से जुड़ी हो तो परिदृश्य अलग हो जाता है। यहां इरादा नेक होना चाहिए। इसीलिए यूथेनेसिया के संबंध में जब हम किसी का भला करने के लिए उसे मारते हैं या मरने के लिए छोड़ देते हैं तो दोनों ही नैतिक रूप से स्वीकार्य होने चाहिए।

(III)

अब अगला विचारणीय प्रश्न यह है कि यूथेनेसिया के पक्ष-प्रतिपक्ष क्या हो सकते हैं? दोनों पक्षों में नैतिकतः कौन उपयुक्त है? क्या इन्हें विधिक मान्यता मिलनी चाहिए? वस्तुतः अन्तिम दोनों प्रश्नों के उत्तर एक ही साथ दिए जा सकते हैं। क्योंकि जो नैतिक रूप से उचित होगा उसे वैध करने में कोई परेशानी नहीं होगी, वहीं जो नैतिक नहीं है, उसे वैध करने की कोई आवश्यकता नहीं।

विपक्ष में तर्क-

1. येल कामीसर (Yale Kamisar) का कहना है कि मानना है कि यदि सक्रिय यूथेनेसिया को स्वीकृति मिल गई तो कई लोग ऐसी परिस्थिति में खुद को मार लेंगे जो उनके हित के खिलाफ होगा। लेकिन कमीसर की बात थोड़ी बेतुकी लगती है, क्योंकि अगर कोई दिमागी रूप से ठीक है और यूथेनेसिया का चुनाव करता है तो क्यों अपने हित के खिलाफ करेगा।[3]
2. मानव जीवन ईश्वर का उपहार है। यह पूरी जरह से अनैतिक होगा कि मनुष्यों को ईश्वर की भूमिका निभाने का अधिकार दिया जाय। कर्म नियम के अनुसार व्यक्ति सुख-दुख भोगता है। यूथेनेसिया मानव जीवन का अवमूल्यन करता है।
3. यूथेनेसिया वैध करने से एक बात की संभावना हो सकती है कि समाज का कमजोर तबका जो कहीं न कहीं स्वयं में हीन मानसिकता से ग्रसित हैं, इसका प्रयोग अधिक करने लगेंगे।

4. यह पूरी तरह से चिकित्सा नैतिकता (Medical Ethics) के खिलाफ है। चिकित्सा नैतिकता रोगी के सेवा, उसकी देखभाल और जीवन रक्षा पर बल देती है। वर्तमान समय में चिकित्सा विज्ञान बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है। आज असाध्य रोग भी ठीक हो रहे हैं। इसलिए किसी रोगी को उसका जीवन समाप्त करने के बजाय उसे शक्ति के साथ जीवन बिताने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। जरूरी नहीं है कि इच्छामृत्यु का निर्णय मरीज स्वयं ले रहा है। ऐसा हो सकता है कि उसके परिजन उस पर ऐसा मनोवैज्ञानिक दबाव बना रहे हों जिससे वह खुद को बोझ समझ रहा हो।
5. हो सकता है कि यूथेनेसिया को पहले लाइलाज बीमारी से ग्रस्त लोगों के लिए वैध बनाया जाय और फिर कानूनों में बदलाव करके गैर-स्वैच्छिक (Non-Voluntary) और अनैच्छिक (Involuntary) यूथेनेसिया के लिए भी वैध कर दिया जाय, इससे परेशानी उत्पन्न हो जायेगी। इस तरह यहाँ (Slippery Slope Effect) सवचम मामिबज का दोष जाता है।
6. हमारे समाज में चमत्कार होते रहते हैं, खासकर जब जब यह जीवन और मृत्यु से जुड़ा मामला हो। बहुत से ऐसे उदाहरण हैं, जहां रोगी कई वर्षों बाद कोमा से लौटा है।

पक्ष में तर्क-

1. मानव जीवन का सार सम्मानजनक जीवन जीना है और यदि किसी का जीवन बदतर स्थिति में पहुंच गया है तो उसे गरिमाहीन जीवन जीने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए।
2. ऐसे देश जो अविकसित या अल्पविकसित हैं, उनमें ऐसे मरीजों पर ज्यादा चिकित्सीय संसाधन प्रयुक्त हो रहे हैं जिनके ठीक होने की संभावना बहुत ही कम है। इस तरह अगर उनके द्वारा या उनके लिए यूथेनेसिया चुन लिया जाता है तो उन संसाधनों का प्रयोग ऐसे मरीजों पर हो सकेगा जिनके कुछ ठीक होने की संभावनाएं हैं।
3. इसके विरोध में एक आक्षेप लगता है कि यह मानवाधिकार को सीमित करता है। इसके लिए जरूरी है यह जानना कि अधिकार कैसे कार्य करते हैं? इसके उत्तर में मुख्यतः कहा जा सकता है कि यह दो तरीके से कार्य करता है, एक तो यह कि ये व्यक्ति के हितों को संरक्षित करते हैं और दूसरा यह कि वह व्यक्ति को यह अधिकार देते हैं कि वह अपने जीवन से संबंधित हर तरह के निर्णय लेने में स्वतंत्र है। अगर यह सही है तो फिर यदि कोई व्यक्ति मरना चाहता है, ऐसा करने में उसकी मदद करने से उसकी स्वायत्तता और बढ़ जायेगी। और यदि ऐसी स्थित है जब मरना व्यक्ति के हित में है तो उसे मारने से उसके हित में बढोत्तरी ही होगी। इसलिए यदि अधिकार किसी के हित और स्वायत्तता को संरक्षित करते हैं और कोई व्यक्ति मारे जाने के लिए कहता है तो उसके अनुरोध को स्वीकार करना बिल्कुल उचित है।
4. हत्या करने को एक अन्य आधार पर भी अनुचित ठहराया जाता है, क्योंकि ऐसा करने से एक निर्दोष व्यक्ति के जीवन जीने के अधिकार के साथ अन्याय हो जायेगा। इसमें दो आक्षेप उत्पन्न होते हैं। पहला, सामान्यतः व्यक्ति अपना अधिकार छोड़ सकता है। मान लीजिए किसी के पास कोई सम्पत्ति है तो वह चाहे तो उसे बर्बाद कर दे या किसी को दे दे, इसमें कुछ भी गलत नहीं है तो यह जीवन के अधिकार के संदर्भ में क्यों लागू नहीं होता। क्यों नहीं व्यक्ति खुद को मार सकता है या किसी और को मारनें के लिए कह सकता है?

5. कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि किसी बेगुनाह को मारना अपने आप में गलत है। इसको मानने के पीछे उनका दृष्टिकोण मूल्यमीमांसीय होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मासूम लोगों का अस्तित्व इस दुनिया को बेहतर बनाता है, इसलिए उनका रहना मूल्यवान है। परन्तु इसकी इस तरह की व्याख्या गम्भीर आक्षेप उत्पन्न करती है- मान लीजिए एक निर्दोष व्यक्ति है जो एक लाइलाज बीमारी से बहुत पीड़ित है और जो जिन्दा रहने के बजाय मरना पसन्द करेगा। अब अगर कोई ये कहता है कि उसको मारना गलत है, क्योंकि इससे संसार की एक मूल्यवान चीज नष्ट हो जायेगी। तो कोई यह भी कह सकता है कि किसी अतिरिक्त निर्दोष व्यक्ति को बनाकर जोकि ऐसे ही असाध्य रोग से पीड़ित हो, इस दुनिया को बेहतर बनाया जा सकता है। लेकिन यह बात कल्पना से परे है।
6. मार्च 2018 में जस्टिस ए. के. सीकरी ने सन् 1928 की महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम की एक घटना की चर्चा किया, जिसमें एक बछड़ा गम्भीर रूप से पीड़ित है, जितने भी इलाज हो सकते थे करके देखा गया, पर वह करवट भी लेता था तो दर्द से कराह उठता था। इस पर गांधी जी कहते हैं कि मानवता यही कहती है कि कि ऐसी परिस्थिति में उस बछड़े के कष्ट का एक ही इलाज है कि उसे मृत्यु दे दिया जाय। लोगों की बैठक करके गांधी जी ने फिर डॉक्टर से परामर्श किया। उसे जहर का इंजेक्शन दिया गया और 2 मिनट में वह मर गया। जस्टिस सीकरी ने कहा कि यदि कोई यह कहे कि यह तो एक पशु पर दिया गया निर्णय है। क्या यह मनुष्य पर लागू हो सकता है? तो मेरा मानना है कि हाँ, लागू हो सकता है, मेरे अपने केस पर भी लागू होगा।[4]

वस्तुतः दुनिया के कई देशों में यूथेनेसिया को मंजूरी मिली है। नीदरलैण्ड, बेल्जियम, अमेरिका आदि देश में चिकित्सक की सहायता से आत्महत्या या सक्रिय यूथेनेसिया को मंजूरी मिली है, स्विट्जरलैण्ड में किसी निजी व्यक्ति की सहायता लेकर भी कोई आत्महत्या कर सकता है। हाल ही में स्विट्जरलैण्ड में आत्महत्या करने की मशीन बना दी गई है, जिसमें न्यूनतम् दर्द होगा और जब व्यक्ति पूरी तरह निश्चित हो जाय कि आत्महत्या करनी है तो वह उसमें लगी बटन को दबा सकता है, जिससे ऑक्सीजन का स्तर कम हो जायेगा और 1 मिनट के अन्दर उसकी मृत्यु हो जायेगी।[5] अगर भारत की बात की जाये तो इसे आई0पी0सी0 की धारा 309 के तहत आत्महत्या के बराबर ही अवैधानिक कृत्य माना जाता है, परन्तु 2018 में सुप्रीम कोर्ट ने कॉमन कॉज बनाम भारत संघ वाद में निष्क्रिय यूथेनेसिया को अनुमति प्रदान कर दी है। वस्तुतः मेरा यह मानना है कि यदि व्यक्ति को गरिमामय जीवन जीने का अधिकार है तो उसे गरिमापूर्ण मृत्यु का अधिकार भी मिलना चाहिए। विशेष परिस्थितियों में जैसे कि अरूणा शानबाग केस, जबकि व्यक्ति का जीवन मौत से भी बदतर हालत में पहुंच गया है, यूथेनेसिया (सक्रिय अथवा निष्क्रिय) की अनुमति उचित ही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Van Norman, Gail Van. 'The Ethics of Ending Life: Euthanasia and Assisted Suicide, Part 1*:* The Language of Ending life'*,* In *CSA Bulletin*, California, Vol. 61, No. 1, Winter 2012, P. 80

2. Tooley, Michael. 'Euthanasia and Assisted Suicide', In *A Companion to Applied Ethics* (Edited by R.G. Frey and Christopher Heath Wellman), Blackwell Publishing. U.K., 2003, P. 331

3. Ibid., P. 336

4. कॉमन कॉज बनाम भारत संघ एवं अन्य वाद, 2018 में जस्टिस ए0 के0 सीकरी के 112 पृष्ठ के निर्णय संबंधी दस्तावेज के पृ0 41-43 का अवलोकन करें।

https://main.sci.gov.in/supremecourt/2005/9123/9123_2005_Judgement_09-Mar-2018.pdf

5. ttps://www.indiatoday.in/science/story/ready-for-use-in-switzerland-the-science-behind-sacro-machine-that-assists-in-suicide-1885184-2021-12-07

सांख्य दर्शन के ज्ञान-विषयक मत की समालोचना

डॉ0 विवेक कुमार पाण्डेय

असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग,,एम0एम0वी0, बी0एच0यू0,वाराणसी

शोध-सारांश **(Abstract):**

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'[1]ज्ञान के सदृश पवित्र कुछ भी नहीं है, फिर भी ज्ञान क्या है, को परिभाषित कर पाना कठिन है। वह व्यापक तथा सीमित दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्यापक अर्थ में जहाँ भी चेतना का प्रकाश हो वह ज्ञान कहलाता है। प्रत्येक चेतना-स्थिति इस दृष्टि से ज्ञान-स्थिति है। सीमित अर्थ में ज्ञान एक निर्णय **(Judgment)** के रूप में होता है। इस दृष्टि से सविकल्पक चेतना ही ज्ञान की कोटि में आती है। परन्तु इस सविकल्पक चेतना का निर्माण कैसे होता है? पुनश्च ऐसे दर्शन में जहाँ प्रकृति और पुरुष दो भिन्न स्वभावधर्मी हैं। एक जड़ है तो दूसरा चेतन। इन दोनों के सहयोग के बिना ज्ञान-प्रक्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। यह प्रक्रिया कैसे सम्पन्न होती है? उस सम्पन्नता में विसंगतियाँ क्या हैं? तथा इस प्रक्रिया की दिशा क्या हो सकती है? इन्हीं प्रश्नों के आलोक में, सांख्य दर्शन के ज्ञान-प्रक्रिया को उद्घाटित एवं विश्लेषित करना इस शोध आलेख का उद्देश्य है।

कुंजी शब्द (Key-words) - प्रमा, प्रमेय, प्रमाण, प्रमाण-मीमांसा, चैतन्य, वृत्ति, उत्क्रामी।

प्रस्तावना **(Introduction)** - भारतीय दर्शन-परम्परा में 'एपिस्टेमोलॉजी' के लिए 'प्रमाण-मीमांसा' शब्द का व्यवहार होता है। इसके अन्तर्गत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्राप्त ज्ञान, उसके स्रोत तथा प्रमाण-अप्रमाण का विवेचन मुख्य रहा है। भारतीय दर्शन-परम्परा में 'प्रमा', 'प्रमाण', 'प्रमाता और प्रमिति' शब्दों का प्रयोग ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत किया गया है। ये सभी शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' धातु से क्रमशः अङ्, ल्युट्, तृच् और क्तिन प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होते हैं। 'माङ्' धातु नापने के अर्थ पठित है। अतः सामान्यतः जो मापा जाय वह प्रमेय, जिससे मापा जाय वह प्रमाण तथा जो मापे, वह प्रमाता कहलाता है।

ज्ञान के स्वरूप पर जीवन और जगत् की भाँति, भारतीय दार्शनिक परम्परा ने व्यापक चिन्तन /ज्ञान किया है। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में ज्ञान का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जिससे अर्थ अथवा विषय प्रकाशित हो वह ज्ञान है। अन्नभट्ट ने ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा है कि समस्त व्यवहारों का हेतु ज्ञान है।[2] किन्तु 'ज्ञान' क्या ऐसा पदार्थ, गुण या तत्त्व है जिसका अनुभव या बोध किया जा सकता है। यदि ज्ञान एक ग्राह्य वस्तु है तो उसका अपना स्वरूप क्या है? तथा उसका कारक कौन है? कुछ दार्शनिक ज्ञान को गुण रूप में स्वीकार करते हैं। इनमें भी कुछ आगन्तुक गुण मानते हैं, कुछ अनिवार्य गुण। ज्ञान को आगन्तुक गुण मानने वाले दार्शनिक पुनः दो शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं। प्रथम चार्वाक दर्शन, जो ज्ञान को भौतिक तत्त्वों का ही आगन्तुक गुण स्वीकार करते हैं[3] तथा दूसरे न्याय, वैशेषिक तथा प्रभाकर, जो ज्ञान के गुणी या धर्मी के लिए भौतिक तत्त्व को अपर्याप्त मानते हैं तथा इसलिए उनका मानना है कि ज्ञान के गुणी रूप में हमें एक अलग तत्त्व; आत्मा को स्वीकार करना होगा। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है, भौतिक पदार्थों का नहीं। रामानुज का मानना है कि ज्ञान, आत्मा का आगन्तुक नहीं, अनिवार्य गुण है। इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का मानना है कि ज्ञान, आत्मा का कार्य है, गुण नहीं।[4]

विचार **(Thought)**- सांख्य एक द्वैतवादी दर्शन है, जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व हैं, जिनके संसर्ग से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है। इनमें पुरुष चैतन्य स्वरूप है और

प्रकृति जड़ है। सांख्य मतानुसार ज्ञान, बुद्धि या चित्त का धर्म है। किन्तु बुद्धि जड़ प्रकृति का परिणाम है। अतः ज्ञान या बोध प्रकृति का धर्म है। 'ज्ञान' और 'बुद्धि' अलग-अलग हैं। बुद्धि (महत् तत्त्व) प्रकृति का कार्य है और ज्ञान का साधन। स्पष्ट है, ज्ञान जो स्वयं द्रव्य है, ऐसे दैहिक प्रतिक्षेपों से निर्मित होता है, जो स्वयं अचेतन है।

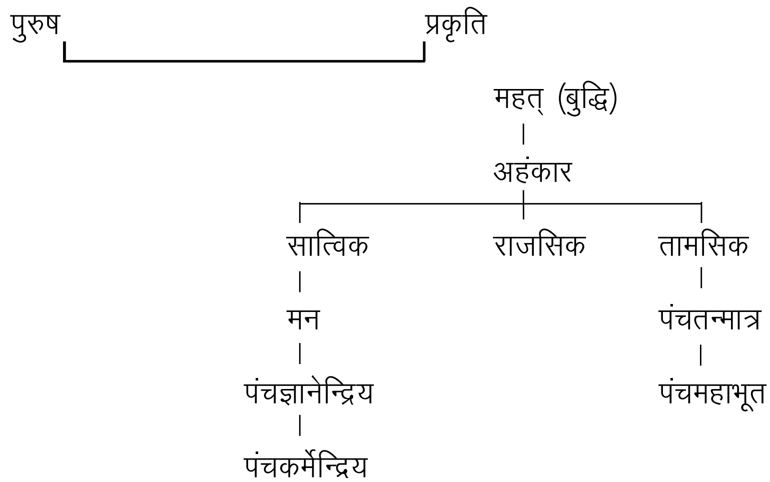

ज्ञानविषयक सांख्य मत का यह विवेचन, यदि स्वीकार कर लिया जाय तो उसका यह मत, उसकी ही तत्त्वमीमांसा से असंगत हो जाता है। क्योंकि सांख्य मत में पुरुष चैतन्य स्वरूप है और साधारणतः ज्ञान का संबंध चेतना से ही जोड़ा जाता है, न कि भौतिक पदार्थ से। इस रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष का स्वरूप लक्षण होने के कारण, सांख्य मत में, ज्ञान अथवा चेतना को 'गुण' के रूप में न स्वीकार करके द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सांख्य मत में (क) क्या ज्ञान 'धर्म' अथवा गुण है या (ख) पुरुष का स्वरूप लक्षण होने के कारण ज्ञान 'द्रव्य' है?

पारमार्थिक अर्थ में 'ज्ञान' का अर्थ 'शुद्ध चैतन्य' है जो पुरुष का स्वरूप लक्षण है। इस रूप में ज्ञान द्रव्य है। पुरुष के स्वरूप लक्षण के रूप में, ज्ञान एक स्थायी सत्ता है। यह कभी न उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट। अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में कहें तो यह 'साक्षी चैतन्य' है जो निर्विकार भाव से मात्र देखता है, उससे प्रभावित नहीं होता।यदि सांख्य के ज्ञान-विषयक इस मत को स्वीकार कर लिया तो कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। ईश्वर कृष्ण जब पुरुष का लक्षण बताते हुए उसे, द्रष्टा, मध्यस्थ, साक्षी आदि कहते हैं[4] तो, 'द्रष्टा' या 'साक्षी' का क्या अर्थ समझा जाय? यदि 'द्रष्टा' और 'साक्षी' का केवल यह अर्थ समझा जाय कि पुरुष स्वयं अपने आपको, अपने आपसे प्रकाशित करता है। अर्थात् वह स्वयं का साक्षी अथवा द्रष्टा है, प्रकृति रूप विषय का नहीं। ऐसा मानने पर सांख्य कठिनाइयों से तो बच जाता है, किन्तु उसका मत अद्वैत वेदान्त हो जाता है तथा व्यावहारिक ज्ञान के मिथ्या तथा विवर्तरूप सिद्ध हो जाने से सांख्य दर्शन का यथार्थवाद ही समाप्त हो जाता है। पुनश्च यह मान लिया कि पुरुष स्वरूपतः ही विषयों का द्रष्टा तथा साक्षी है, तब उसे शुद्ध कूटस्थ, अपरिणामी आदि कहने में कठिनाई प्रतीत होती है। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन, जो ज्ञान को आवश्यक रूप से सकर्मक मानते

हैं, का कहना है कि ज्ञान का कोई न कोई विषय आवश्यक है, ऐसा ज्ञान जिसका कोई विषय ही न हो विरोधाभास है।

सांख्य, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा के उपर्युक्त तर्क को यदि स्वीकार कर लेता है, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि 'पुरुष रूप ज्ञान' का भी कोई न कोई विषय अवश्य रहता है, जो स्वयं पुरुष नहीं रहता है, क्योंकि सांख्य यह मानता है कि ज्ञाता-ज्ञेय, विषय-विषयी का भेद मूलभूत है जो, कभी समाप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में एक ही पुरुष, एक साथ ज्ञाता तथा ज्ञेय कैसे हो सकता है? यदि यह मान लिया जाय कि पुरुष चैतन्य का विषय स्वयं पुरुष न होकर, प्रकृति हो सकती है, तब प्रकृति को सांख्य दार्शनिक परिणामी नित्य मानते हैं और इसमें सरूप तथा विरूप परिवर्तन होते रहते हैं और यदि पुरुष चैतन्य को इन विषयों का ज्ञाता मान लिया जाय तो इसका केवल एक अर्थ हो सकता है और वह है- पुरुष का सदैव विषयाकार होना। ऐसी आस्था में पुरुष के शुद्धत्व, कूटस्थत्व या अपरिणामी का क्या होगा? स्पष्टतः सांख्य को इस विरोधाभास से बचने के लिए अद्वैत वेदान्त के समान यह मानना पड़ेगा कि पुरुष-चैतन्य और आत्म-चैतन्य में विषय के लिए कोई जगह ही नहीं है। किन्तु ऐसा करने से सांख्य का 'पुरुष बहुत्व' असंगत हो जाता है।

सांख्य 'यथार्थवाद' का पोषक है, इसलिए वह पुरुष तथा अपने समस्त परिणामों सहित प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करता है। साथ ही पुरुष की निर्विकारता तथा शुद्धता को भी अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए वह व्यावहारिक ज्ञान में पुरुष के सक्रिय योगदान को स्वीकार नहीं करता है। व्यावहारिक दृष्टि में 'ज्ञान' उस 'बुद्धि' अथवा 'चित्त' का 'धर्म' है अथवा गुण है जो बुद्धि, चित्त अथवा प्रकृति का परिणाम है। इस रूप में 'ज्ञान' गुण अथवा कर्म है। व्यावहारिक ज्ञान की व्याख्या करते हुए सांख्य कहता है कि सर्वप्रथम इन्द्रियों के माध्यम से विषय का संबंध मन से होता है। तत्पश्चात् मन, उस विषय को बुद्धि तक पहुँचाता है। विषय के सम्पर्क में आकर 'बुद्धि' विषयाकार होती है, जो 'वृत्ति' कहलाता है। किन्तु यह वृत्ति, ज्ञान नहीं है। यह वृत्ति तब तक प्रकाशित नहीं होती, जब तक विषय का बोध ज्ञाता को नहीं होता।

वृत्ति के प्रकाशन की व्याख्या करते हुए सांख्य कहता है कि प्रकृति का परिणाम होने के कारण, बुद्धि त्रिगुणात्मिका है। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों ही गुण उपस्थित हैं। बुद्धि में सतोगुण की प्रधानता होती है। सतोगुण की प्रधानता के कारण मात्र बुद्धि में, जो एक दर्पण की तरह कार्य करती है, में यह क्षमता है कि वह पुरुष को प्रतिबिम्बित करती है और उससे प्रकाशित होती है। पुरुष का यह प्रतिबिम्ब ही साक्षी चैतन्य है, जो द्रष्टाभाव से विषय को देखता है।

यहाँ समस्या यह आती है कि भिन्न-भिन्न धर्मों से युक्त प्रकृति-पुरुष में सान्निध्य संभव कैसे होता है? इस सान्निध्य की दो संभावनाएँ हो सकती हैं- प्रथम, दैशिक-कालिक। देश-काल का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं के मध्य होता है, किन्तु पुरुष तो अभौतिक है, देश तथा काल के परे है। अतः प्रकृति के साथ उसका देश-कालिक सान्निध्य सम्भव नहीं है। पुनश्च यदि यह मान लिया जाय कि अभौतिक तत्त्वों का भी अन्य भौतिक तथा अभौतिक तत्त्वों से संयोग हो सकता है तो भी, पुरुष के नित्य तथा विभु होने के कारण अन्य सभी तत्त्वों में समान रूप से होगा। तब यह कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता है कि बुद्धि से ही पुरुष का सान्निध्य है। अतः वह उसी में प्रतिबिम्बित होगा अन्य में नहीं।

सांख्य दर्शन में यह माना गया है कि सत्त्व गुण की पुरुष से सबसे अधिक समानता है। अतः सत्त्वगुण का सान्निध्य ही बुद्धि का, पुरुष के साथ सान्निध्य है। दीपक काली दीवार पर

प्रतिबिम्बित नहीं होगा किन्तु काँच जितना ही स्वच्छ होगा, उसमें दीपक का प्रतिबिम्बन उतना ही अधिक होगा। यह सत्य है कि भारतीय चिंतन परम्परा में सत्त्वगुण की प्रधानता को, आत्मतत्त्व की उपलब्धि में सहायक माना गया है। सत्त्वगुण की प्रधानता निश्चय ही आत्मबोध के लिये साधन है। व्यक्ति के अन्दर जितना अधिक तमोगुण तथा रजोगुण होगा, वह आत्मतत्त्व से दूर होता जायेगा। अतः सान्निध्य का तात्पर्य बुद्धि का सतोगुणी स्वभाव से लिया जा सकता है। बुद्धि अपने-आपमें सात्त्विक है।[5]

तार्किक दृष्टि से उपर्युक्त मत भी सार्थक प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि प्रत्येक तत्त्व किसी भी समय, किसी शुद्ध गुण वाला नहीं होता है- तिर्गुणात्मिका प्रकृतिः। उसमें किसी गुण विशेष की प्रधानता तो हो सकती है किन्तु उसमें विद्यमान अन्य गुण भी रहेंगे। ऐसी स्थिति में पुरुष का प्रतिबिम्ब तथा फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति, प्रकृति के अन्य तत्त्वों में भी न्यूनाधिक रूप में होनी चाहिए जो कि नहीं होता। यदि हम 'प्रतिबिम्ब', 'प्रकाश' आदि शब्दों को अलंकारिक रूप में लेते हैं, क्योंकि चैतन्य के बुद्धि पर प्रकाश को भौतिक प्रकाश-रश्मि की भाँति तो समझा नहीं जा सकता, तो भी, यह तो समस्या का कथन मात्र हुआ, उसका हल नहीं। सांख्य दार्शनिक सान्निध्य तथा प्रतिबिम्ब की बात कर समस्या का कथन तो अवश्य करते हैं, किन्तु उसका समाधान नहीं।[6]

निष्कर्ष **(Conclusion)**- सांख्य दर्शन के ज्ञान-विषयक उपर्युक्त मत के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वह ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या 'चित्तवृत्ति के प्रकाशना' के रूप में करता है। विषय का संयोग इन्द्रिय से न होकर बुद्धि से होता है। बुद्धि, अहंकार तथा मनस, ये तीन 'अन्तःकरण' हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ये दस 'बाह्य-करण' हैं। अन्तःकरण विषय ज्ञान के लिए इन द्वार-रूप इन्द्रियों से बाहर निकलकर शब्द, स्पर्श, रूप, गंध आदि विषयों के सम्पर्क में आकर तदाकार हो जाता है[7]

शान्तः करणा बुद्धिः सर्व विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् तिविंधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।।

'मन' संकल्प-विकल्प करता है, 'अहंकार' मुझे यह ज्ञान हुआ है, इत्यादि 'अहंकार' के रूप का होता है और बुद्धि यह निश्चय करती है कि- यह (नील) रूप है।[8] वस्तुतः सभी बातें बुद्धि ही करती है और अन्तःकरण उसके सहायक हैं। किन्तु ज्ञान-विषयक यह मत ज्ञानमीमांसीय न होकर तत्त्वमीमांसीय अधिक प्रतीत होता है और जो कुछ तत्त्वमीमांसा की कठिनाई है वह, ज्ञान-मीमांसा पर भी लागू हो जाती है। फिर भी सांख्य का ज्ञान-विषयक यह दृष्टिकोण भारतीय दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसने पुरुष तत्त्व तथा प्रकृति तत्त्व के विपरीत स्वरूप को स्पष्ट कर, समस्या को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रकाश में लाया तथा इसके समाधान का प्रयास भी किया। समाधान कहाँ तक हो पाया यह अलग बात है। बुद्धि तत्त्व जड़ होते हुए भी चेतनवत् है और इसलिए बुद्धि में ही ज्ञान उत्पन्न होता है।

सांख्य की ज्ञानमीमांसा में हम ज्ञान को, प्रकृति में 'नव्योत्क्रांत गुण' **(Emergent Quality)** के रूप में समझें तो समस्या के समाधान में हमें सहायता मिलती है।[9] नव्योत्क्रान्ति को मानने वाले दार्शनिकों का अभिमत है कि भौतिक विकास की एक विशेष अवस्था में उसमें प्राणतत्त्व तथा प्राणिक विकास की अवस्था-विशेष में चेतना का उद्गम होता है। सांख्य इस सिद्धान्त के अनुकूल यह मानता है कि प्रकृति की अवस्था-विशेष, जिसे वे बुद्धि कहते हैं, ही चेतन तत्त्व के उद्गम के लिए उपयोगी होता है। किन्तु उत्क्रामी विकासवादियों की भाँति ही सांख्य भी केवल

इससे कि ज्ञान का बुद्धि में उदय होता है, उसे बुद्धि का गुण मानने को तैयार नहीं। वास्तव में यथार्थवादी और प्रत्ययवादी दृष्टिकोणों के मध्य झूलता हुआ सांख्य, एक ओर तो यह देखता है कि बुद्धि किस प्रकार उससे बिल्कुल विपरीत स्वभाव वाले गुणों से युक्त हो सकती है और इसलिए वह बुद्धि के लिए केवल यह कहता है कि- ''बुद्धि चेतनवत् होती नहीं है', 'चेतनवत् प्रतीत होती है। किन्तु चेतनवत् प्रतीत ज्ञान को वास्तविक मानना, 'मिथ्या' नहीं, सांख्य दर्शन की असंगति है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गीता, 4/38
2. 'सर्वव्यवहार हेतुर्ज्ञानम', अन्नभट्ट, 'तर्कसंग्रह', भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1910
3. चार्वाक दर्शन यह मानता है कि भौतिक तत्त्व जब एक निश्चित अनुपात में मिलकर शरीर रूप में एकात्रित होते हैं तो उनमें ज्ञानरूपी एक नया गुण उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान भौतिक पदार्थों का आगन्तुक गुण है। 'चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुजायते' मधवाचार्य, 'सर्वदर्शन संग्रह', अनु0 सम्पा0 प्रो0 उमाशंकर शर्मा, ऋषि, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1964
4. तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषः
   कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्ट्रत्वमकर्तृत्वभावश्च।। सा0का0/19 ईश्वरकृष्ण 'सांख्यकारिका', व्याख्याकार, पं0 श्रीज्वालाप्रसाद गौड़, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1950
5. Radhakrishnan, S. 'Indian Philosophy', Vol.-2 (Hindi Trans) Nandkishor Gobhil, Vidayalankar, Rajpal and Sans, Delhi, 1973, p. 289.
6. शर्मा नन्दकिशोर, 'भारतीय दार्शनिक समस्यौं', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1994, पृ0 17
7. सांख्यकारिका-35
8. 'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मों', मिश्र उमेश, 'भारतीय दर्शन', हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975, पृ0 307
9. शर्मा नन्द किशोर, 'भारतीय दार्शनिक समस्यौं', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1994, पृ0 18.

ध्यान की अवधारणाः जे0 कृष्णमूर्ति के विशेष संदर्भ में

नीरज कुमार पाण्डेय
(जे0आर0एफ0), दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

जब हम 'ध्यान' नामक शब्द की चर्चा करते हैं, तो सामान्यतः हमे ऐसा लगता है की ध्यान एक साधन है जिससे किसी लक्ष्य को प्राप्त करना है। जैसे-कक्षा अध्यापक बच्चों से कहता है कि ध्यान दो, तो उसका भी लक्ष्य है कि मन को एकाग्र करो और जो बताया जा रहा है उसे सुनो तथा समझो, लेकिन जब कोई ऋषि या महात्मा कहता है कि ध्यान करो, तो वह समझने के लिए नहीं कहता है बल्कि उसका लक्ष्य उस असीम और अमूर्त ऊर्जा को धारण करना है। यहाँ दोनों ही जगह मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान को साधन के रूप में लिया गया है। स्वामी घनानंद के अनुसार (जो एक व्यावहारिक वेदांती हैं) सभी धर्मों में मन को चरम सत्ता पर एकाग्र करने का प्रयत्न करना ही ध्यान है, व्यक्ति जब किसी वस्तु का चिंतन करता है तो वह मानसिक रूप से उसके निकट पहुँच जाता है, इसके बाद एक अवस्था ऐसी आती है जब वह वस्तु उसके मन, हृदय और आत्मा में प्रवेश कर जाती है, और वह व्यक्ति उस वस्तु के साथ एकत्व का अनुभव करने लगता है। ध्यान का अंतिम लक्ष्य उस चरम अवस्था को प्राप्त करना है, लेकिन जिद्दू कृष्णमूर्ति कहते हैं कि ध्यान किसी साध्य का साधन नहीं है, यह साध्य एवं साधन दोनों है[1]। ध्यान एक ऐसी गतिविधि है जो समय के आयाम में शुरू होकर समय के पार चली जाती है, ध्यान की शुरुआत हमारे द्वारा होती है, जब ध्यान द्वारा ही हम अपने विचार और भावना के प्रति निष्पक्ष सजगता के साथ उसे स्वतंत्र रूप से पलने-बढ़ने का स्थान देते हैं तो वहीं से ध्यान की शुरुआत होती है, और धीरे-धीरे यह विचार तथा भाव विकसित होकर तिरोहित हो जाती है क्योंकि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी निश्चित है, तब ध्यान समय के पार चला जाता है जहां पूर्ण शून्यता है, यह पूर्ण शून्यता ही प्रेम है (यहाँ प्रेम का अर्थ व्यक्तिगत ना होकर सार्वभौमिक अर्थ में है) जहां प्रेम है वहाँ सृजन है, अतः ध्यान ही सृजनशीलता है[2]।

ध्यान केवल शरीर और विचार का नियंत्रण नहीं करता है और ना ही प्राणायाम की कोई पद्धति है, शरीर को स्वस्थ तनाव रहित और शांत स्थिर होना चाहिए, शरीर को स्वस्थ तनाव रहित रहने के लिए योग करना विशेष तौर पर प्राणायाम करना चाहिए, क्योंकि अनुभव की संवेदनशीलता को तीक्ष्ण बनाना एवं उसे बनाये रखना आवश्यक है, लेकिन ध्यान की शुरुआत शरीर से नहीं होती है बल्कि इसकी शुरूआत मन से होती है, मन को उसके सारे मतों, पूर्वाग्रह और स्वार्थों समेत देखा और समझा जाता है[3]। यहाँ दो शब्द हैं 'देखना' और 'समझना'। कृष्णमूर्ति के दर्शन में देखना और समझना समान है अर्थात जब व्यक्ति अपने मन के पूर्वाग्रहों या ग्रसित किसी 'वाद' को देख लेता है कि मैं इस 'वाद' से ग्रसित हूँ, तब उसे वह समझ लेता है और उससे मुक्त हो जाता है, कृष्णमूर्ति के दर्शन में देखना, सुनना तथा समझना एक कला है। कला शब्द का अर्थ होता है कि हर चीज़ को उसकी सही जगह पर रखना, वहां रखना जहां उसकी जगह है। देखना एक कला है, किसी शब्द के बगैर, किसी वस्तु को, बिना किसी व्याख्या के, बिना मूल्यांकन के, बिना किसी पूर्वाग्रह के, देखना ही देखने की कला है और बिना किसी विचार के सुनना, सुनने की कला है, यह तभी हो सकता है जब हम विचार को उसकी सही जगह रख सकें और सीखने की कला का अर्थ है संचित ना करना क्योंकि संचित करने पर यह जानकारी और विचार बन जाती है। अतः कृष्णमूर्ति के दर्शन में देखने की कला है, सुनने की कला है,

सीखने की कला है जिसका अभिप्राय मात्र इतना है कि हर चीज को वहाँ रखना जो उसकी जगह है[4]। लेकिन यहां हम सिर्फ कृष्णमूर्ति के ध्यान की व्याख्या करेंगे ना कि उनके देखने सुनने समझने की कला का।

कृष्णमूर्ति के अनुसार ध्यान का आरंभ शरीर से नहीं बल्कि मन से करना है, जैसा कि जैन आगम में ध्यान को तप के अन्तर्गत ही माना है क्योंकि यह अभ्यांतर तप का अंतिम भेद है, जहां ध्यान को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रशस्त ध्यान तथा अप्रशस्त ध्यान[5]। अतः जैनी भी ध्यान का आरम्भ मन से मानते हैं। लेकिन कृष्णमूर्ति के अनुसार मन से आरंभ करने का अर्थ मन को एकाग्र करना नहीं है जैसा कि योग दर्शन में क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरूद्ध की बात आती है, और जहाँ ध्यान के लिए मन का एकाग्र होना आवश्यक माना गया है तथा मन की एकाग्रता के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार की बात की गयी है[6]। जैनियों के अनुसार चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है अर्थात किसी एक विषय पर ही चिंतन को केंद्रित करना ध्यान है। लेकिन कृष्णमूर्ति के अनुसार ध्यान एकाग्रता नहीं है। क्योंकि एकाग्रता का अर्थ है बहिष्कार, अलगाव, प्रतिरोध, और इसलिए एकाग्रता एक संघर्ष है[7]। ध्यानपूर्ण मन एकाग्र हो सकता है, लेकिन एकाग्र मन ध्यानपूर्ण नहीं हो सकता है, कृष्णमूर्ति मन की एकाग्रता के लिए साधन या किसी पद्धति की चर्चा नहीं करते लेकिन ध्यान में मन की एकाग्रता को स्वीकार करते हैं, उनका मनाना है कि एकाग्रता अभ्यास से नहीं बल्कि सहज रूप से घटित होती है। ध्यान इसी एकाग्र करने वाले मन का अंत है[8]। ध्यान किसी अलौकिक और दिव्य दर्शन की खोज नहीं है, चाहे यह परंपरा अनुसार कितना ही पवित्र और पूज्य क्यों ना हो, ध्यान तो वह अनंत विस्तार है जहाँ विचार का प्रवेश नहीं हो सकता, विचार द्वारा अपने चारों ओर निर्मित वह लघु अंतराल यानी 'मैं' हमारे लिए अत्याधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि मन इसके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता और इसीलिए यह अपना तादात्म्य उस अंतराल की हर चीज के साथ करता है, जो वह अपना समझता है, वह किये गये हर कर्म को अपना कर्म समझता है, कर्म से प्राप्त परिणाम अपना समझता है और धीरे-धीरे इस शरीर को तथा संसार को अपना मानने लगता है, लेकिन ध्यान में इस सबको समझ लेने के बाद, इस प्रक्रिया को आत्मसात कर लेने के बाद मन एक ऐसे आयाम में प्रवेश कर सकता है जहां सक्रियता ही निष्क्रियता है[9]। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी स्थिति को कर्म में अकर्म कहा जाता है, श्रीमद्भागवद्गीता के अनुसार जब जीव अहंकार से रहित होकर कोई भी कार्य करता है, तो वह कर्म करते हुए भी अकर्ता की स्थिति में बना रहता है, यही कर्म में अकर्म की स्थिति है[10]। गीता के आठवें अध्याय के 17वें श्लोक में कहा गया है कि जो मिथ्या अहंकार से प्रेरित नहीं है, जिसकी बुद्धि बंधी नहीं है, वह इस संसार में मनुष्यों को मारता हुआ भी नहीं मारता। न ही वह अपने कर्मों से बंधा होता है। ध्यान की अवस्था में हम कर्म करते हुए कर्म नहीं करते हैं क्योंकि ध्यानावस्था में करने वाला अर्थात कर्तापन का भाव नहीं होता है, जबकि अधिष्ठान (शरीर) जीव, करण (इन्द्रिया) चेष्टा (कर्ता का प्रयास) सब कुछ का अस्तित्व बना रहता है, क्योंकि इसके बिना कर्म हो ही नहीं सकता। सिर्फ ध्यानस्थ मन में 'मैं' का भान नहीं होता है अर्थात मेरा-तुम्हारा का विभाजन नहीं है इस अदभुत स्थिरता में विभाजन का अस्तित्व नहीं होता है जहाँ हमसे भिन्न कुछ नहीं है। कृष्णमूर्ति कहते हैं कि उन पहाड़ियों में जंगलों में अकेले घूमने जाएँ या दूर तक फैले हुए श्वेत बालू के किनारे-किनारे अकेले टहलते चले जाएं तो उस एकांत में हमें मालूम होता है कि ध्यान क्या है। एकांत के परम आनंद का आगमन तभी होता है जब हम अकेले होने से भयभीत नहीं होते, जब हम संसार में रहते हुए

भी संसार के नहीं होते, जब किसी चीज के प्रति हमारी कोई आसक्ति नहीं होती तब जैसे सुबह उषा का आगमन होता है उसी तरह एकांत का आनंद चुपचाप चला आता है।[11]

न्यू मेक्सिकों में स्थित नेशनल लैबोरेटरी रिसर्च सेन्टर में पूछे गये प्रश्न ध्यान क्या है का उत्तर देते हुए कृष्णमूर्ति ने कहा कि-सचेतन ध्यान ध्यान नहीं है। हमें जो सिखाया गया है वह सचेतन, सप्रयास ध्यान ही है जसमें हम आलथी, पलथी मारकर बैठ जाते हैं या लेट जाते हैं या कुछ विशेष वाक्यांशों को दुहराते भर हैं, यह तो जान-बूझकर ध्यान रखने की चेष्टा है। वक्ता की दृष्टि में ऐसा ध्यान अर्थहीन है। वह कामना का ही हिस्सा है। मन शांत हो, यह कामना भी वैसे ही है जैसे एक अच्छे घर की चाहत या बढ़िया कपडों की इच्छा। सचेतन, चेष्टापूर्ण ध्यान अन्य प्रकार के ध्यान के लिए घातक है, अवरोध है।? ध्यान ऐसा कुछ नहीं है जो दैनिक जीवन से अलग हो, मात्र किन्ही शब्दों को, किसी मंत्र को दोहराना ध्यान नहीं है, जिसे ट्रांसडेंटल मेडिटेशन या हार्टफुलनेस मेडिटेशन के नाम से जाना जाता है। ध्यान, जिसमें अभ्यास किया जाता हो, वहां नियंत्रण होता है, नियंत्रण में निहित है, एक नियंत्रण करने वाला, और वह नियंत्रक सोचता है कि जिस पर वह नियंत्रण कर रहा है, वह उससे भिन्न है किंतु जब हम ध्यान से निरीक्षण करें तो, नियंत्रण करने वाला ही वह है, जिसका नियंत्रण किया जाता है[12]। वास्तव में नियंत्रण का कोई स्थान नहीं है बल्कि यह सब कुछ हासिल करने के लिए और स्वयं को बदल कर कुछ और बन जाने के उद्देश से नियंत्रण किया जाता है, यह सब विचार के स्तर पर होता है क्योंकि विचार की प्रकृति विखंडनकारी है, वह अपने आप को नियंत्रक और नियंत्रित में विभाजित कर लेती है।[13] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जो मर्जी हो वही करें यह तो बचकानी बात है किंतु नियंत्रण के इस पूरे सवाल को समझना हो तो यह जरूरी है कि हम उस इच्छा की जांच पड़ताल करें। अंग्रेजी का एक शब्द रिस्पेक्ट है जिसका मूल अर्थ है 'नजर डालना' और जब हम अपने इर्द-गिर्द, आस-पास नजर डालते हैं तो हमें दिखाई देता है कि सभी मनुष्य चाहे वह भारतीय हो या अमेरिकी हो, उनमें एक असाधारण इच्छा होती है, हम अपनी तुलना किसी व्यक्ति, विचार या किसी महान पुरुष से करने लगते है तो हम नियंत्रण में पड़ जाते हैं और हम सोचते हैं कि मैं इन-इन गतिविधियों का नियंत्रण कर उन-उन चीजों को प्राप्त कर सकता हूँ, परंतु यदि हम इस समग्र गतिविधियों को देख पाते हैं तो नियंत्रण के बिना जीवन सम्भव हो जाता है। कृष्णमूर्ति के अनुसार नियंत्रण बिना जीवन की खोज करना ही ध्यान है, अर्थात सत्ता से स्वतंत्र होना, वास्तविकता के क्षेत्र में हर चीज को उसकी सही जगह पर रखना और चेतना को अपनी सीमा का एहसास करना ही ध्यान है।[14] इसलिए ध्यान की महत्ता एवं सार्थकता है, ध्यान हमारी जिंदगी पर प्रभाव डालता है ना सिर्फ जाग्रत अवस्था में बाल्कि नींद के दौरान भी।

प्रश्न उठता है कि शयन का क्या महत्व है? क्या सोते समय स्वप्न आता है? स्वप्न क्या है? हम स्वप्न क्यों देखते हैं और क्या ऐसा संभव हो सकता है कि हम स्वप्न देखे ही नहीं? जब हम स्वप्न नहीं देखते हैं तो हम पूर्ण विश्राम में होते हैं, और तब मन ऊर्जावान होता है, जब हम अपने विचारों, क्रियाकलापों और आचरण पर ध्यान दे रहे हैं, तो स्वप्न आते ही नहीं है। स्वप्न हमारे दैनिक जीवन को ही जारी रखता है, यह हमारे दिन प्रतिदिन के घटनाओं के चेतन या अचेतन के हलचलों की एक निरंतरता है। लेकिन जब मन जाग्रत अवस्था के दौरान पूर्ण रूप से सजग रहता है, तब सोते समय स्वप्न नहीं होते हैं और मन को पूर्ण विश्राम मिलता है वह स्वयं को नया कर पाता है जिसमें अपार ऊर्जा विद्यमान होती है।[15] यह सब ध्यान का ही भाग है, जो एक खोज है।

कृष्णमूर्ति के अनुसार ध्यान करने की कोई पद्धति नहीं है लेकिन ध्यान करने की प्रक्रिया जरूर है इस प्रक्रिया को अभ्यास से नही लाया जा सकता है क्योकि देखना तथा सुनना अभ्यास नही है बाल्कि यह एक कला है जिसे स्वयं से सीखना पड़ता है। कृष्णमूर्ति के अनुसार सीखना अपनी ही क्रिया है।[16] हम जानते है कि कुछ सीखने के पश्चात् हम उसी पर क्रिया करते हैं, जो हमने सीखा है। लेकिन कृष्णमूर्ति सीखने की गति में ही क्रिया को मानते हैं अर्थात सीखना ही करना है पहले सीखना और तत्पश्चात क्रिया का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि सीखने के बाद उस संचय से क्रिया करना अहंकार को जन्म देना है, अहंकार अतीत का सार है, अतीत वर्तमान से टकराता है और भविष्य में आगे बढ़ता है। जहां सीखना है वहां निरंतर गति है वहाँ कोई संचय नहीं है, जहाँ संचय नही, वहाँ अहंकार नही हो सकता है। अतः ध्यान कोई अवस्था नहीं है, यह गति है, जैसे क्रिया एक गति है, जब क्रिया, सीखना और ध्यान की सामंजस्य गति होती है, तब ऊर्जा का कोई क्षय नहीं होता है,और यही ध्यान का सौन्दर्य है।[17]

निष्कर्षतः कृष्णमूर्ति ध्यान की अवधारणा में, चेतना की सम्पूर्ण अंतर्वस्तु के चयनरहित अवलोकन को ही ध्यान मानते हैं। जिस अवलोकलन में कोई केंद्र नहीं, कोई अवलोकनकर्ता नहीं और न ही इस अवलोकन का कोई लक्ष्य है। इस तरह वह एक ऐसे अवलोकन की तरफ संकेत करते हैं जो मानव चेतना का स्वाभाविक ध्यान है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कृष्णमूर्ति, जे0, ध्यान, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2008. पृष्ठ संख्या, 20
2. कृष्णमूर्ति, जे0, ध्यान, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2008. पृष्ठ संख्या, 42
3. कृष्णमूर्ति, जे0, ध्यान, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2008. पृष्ठ संख्या, 47
4. कृष्णमूर्ति, जे0, ज्ञात से मुक्ति्त, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2012. पृष्ठ संख्या, 110,111
5. जैन चन्द शेखर, जैन धम, ज्ञान प्रकाशन, वैशाली नगर, जयपुर, 2011, पृष्ठ संख्या, 308
6. शर्मा चन्द्रधर, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1991. पृष्ठ संख्या, 148
7. कृष्णमूर्ति, जे0, ध्यान, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2017. पृष्ठ संख्या, 61
8. कृष्णमूर्ति, जे0, ध्यान, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2017. पृष्ठ संख्या, 53
9. कृष्णमूर्ति, जे0, ध्यान, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2017. पृष्ठ संख्या, 53
10. पाण्डेय ऋषिकान्त, दार्शनिक विमर्श, भुनवेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, इलाहाबाद, 2007. पृष्ठ संख्या, 15
11. कृष्णमूर्ति, जे0, ध्यान, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2017. पृष्ठ संख्या,19

12. कृष्णमूर्ति, जे0, सत्य और यथार्थ, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2015. पृष्ठ संख्या, 154
13. कृष्णमूर्ति, जे0, सत्य और यथार्थ, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2015. पृष्ठ संख्या,154
14. कृष्णमूर्ति, जे0, सत्य और यथार्थ, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2015. पृष्ठ संख्या,155
15. कृष्णमूर्ति, जे0, सत्य और यथार्थ, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी 2015. पृष्ठ संख्या, 157
16. कृष्णमूर्ति, जे0, आमूल क्रांति की आवश्यकता, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी, 1986. पृष्ठ संख्या,144
17. कृष्णमूर्ति, जे0, आमूल क्रांति की आवश्यकता, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंण्डिया, राजघाट वाराणसी, 1986. पृष्ठ संख्या, 145

शब्दार्थ नित्यानित्य सम्बंध : एक विमर्श

मनोज कुमार मिश्र
प्रवक्ता (तर्कशास्त्र), आर0 आर0 इण्टर कालेज, हरदोई

गहन चिन्तन, सूक्ष्म विचार और सत्य के अन्वेषण की पद्धति को ही दर्शन कहा जाता है। इस प्रकार भाषा के विश्लेषण को भी दर्शनशास्त्र का स्तर मिल गया, जिसे हम भाषा दर्शन के नाम से जानते है। भाषा व्यवहार शब्द, जिसका प्रयोजन ही है अर्थ की निष्पत्ति। प्रश्न की आधारशिला है उठता है कि शब्द से अर्थ की निष्पत्ति किस प्रकार होती है? शब्द व अर्थ के मध्य का सम्बन्ध क्या है? शब्द और अर्थ के स्वरुप की विचित्रता व उनके मध्य का घनिष्ठ सम्बन्ध (जहां एक के अभाव में दूसरे की कल्पना तक नहीं की जा सकती) आदि काल से मानव मन के लिए कुतूहल का विषय रहा है। कोई शब्द क्यों किसी विशेष अर्थ का ही बोध कराता है? किसी अन्य अर्थ का बोध क्यो नही कराता? या यू कहे, किसी विशेष अर्थ के लिए हम क्यो शब्द विशेष का ही चयन करते है, किसी अन्य शब्द का क्यों नहीं? ऐसे प्रश्न बहुधा बच्चे भी कुतूहलवश किया करते है। किंतु इन बाल जिज्ञासाओं से उत्पन्न समस्याओं का समाधान इतना सरल नहीं है।

शब्द विशेष के साथ अर्थ विशेष के ग्रहण की समस्या पर विचार करते समय जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह है कि शब्द और शब्दार्थ का सम्बन्ध सनातन व सहज है या आकस्मिक व परम्परा प्राप्त। व्याकरण दर्शन में अर्थ को शब्द ब्रह्म के विवर्त के रूप में स्वीकृति मिली, जहां वाणी और अर्थ को अभिन्न मानकर स्फोट रुप में वाणी के नित्यत्व की चर्चा की गई है, जिसमे वर्ण, पद, वाक्य आदि की तात्विक अभिन्नता स्वीकार की गई है।

''पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च -वाक्यपदीयम्

उनके अनुसार, वर्ण, पद तथा वाक्य में वाणी का विभाजन केवल व्यावहारिक सहजता हेतु किया गया है। वास्तव में वाणी की अखण्डता ही तात्विक है, विभाजन कल्पित मात्र। इसी प्रकार शैव मत में शक्ति व अर्थ को शिव के रूप में कल्पित कर दोनों में अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

'अर्थः शम्भू शिवा वाणी'

मीमांसा दर्शन में, शब्द व अर्थ के सहज नित्य सम्बन्ध का सिद्धांत प्रतिपादित है। यही नहीं, भारतीय काव्य तथा काव्यशास्त्र में शब्द व अर्थ के अभेद का सम्बन्ध बहुमान्य है द्य कालिदास ने शिव और शक्ति के अभेद का स्मरण वाली वाणी और अर्थ के मध्य अभेद की चर्चा की है।

'वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौं - रघुवश

इसी प्रकार पतञ्जलि ने शब्द व अर्थ के मध्य अभेद सम्बन्ध को स्वीकार करते है, उनके अनुसार, 'जो शब्द है, वही अर्थ है और जो अर्थ है, वही शब्द है

'योग्यम् शब्दः स एव अर्थः।
योऽयम् अर्थः स एव शब्दः। - महाभाष्य

इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक, सांख्य- योग, जैन व बौद्ध दर्शन में, शब्द व अर्थ के मध्य के सम्बन्ध को आकस्मिक (अनित्य) व परम्परा प्राप्त माना जाता है। नैयायिकों के अनुसार, वायु के अद्यात से उत्पन्न शब्द अनित्य है। क्योकि यह प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में ठ्ठहरता है तथा तीसरे क्षण नष्ट हो जाता है।

'शब्दस्वाकाशमात्रवृत्तिः बाह्यैकोन्द्रियग्राह्यः
द्विक्षणावस्थायी तृतीयक्षणे नश्यति च
अतएवानित्यः इति नैयायिकसिद्धातः।

न्यायकोश

इसी प्रकार, शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करने वाले बौद्ध दार्शनिक शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। जैसे- विषय और ज्ञान के मध्य का सम्बन्ध कुछ आचार्य शब्द और अर्थ के मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध को स्वीकार करते है तो कुछ संकेत सम्बन्ध को और कुछ शब्द और अर्थ के मध्य के सम्बन्ध को स्वाभाविक मानते है। शब्द व अर्थ के मध्य का सम्बन्ध क्या है? इसकी चर्चा पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि भाषा की मूलभूत इकाई क्या है? वर्ण, पद, शब्द व वाक्य में क्या भेद है? उनमें भेद है भी या वे भिन्न भिन्न नाम मात्र है।

उक्त प्रश्नों के उत्तरार्थ प्रस्तुत शोध पत्र को तीन भागों में विभाजित किया गया है। शोध पत्र के प्रथम भाग में, भाषा की मूलभूत इकाई क्या होगी? इस सम्बन्ध में वर्णवाद, पदवाद व वाक्यवाद की चर्चा की गई है। द्वितीय भाग, शब्द व अर्थ के मध्य का सम्बन्ध नित्य है या अनित्य की चर्चा करते ये न्याय-सम्मत मत को स्पष्ट किया गया है। साथ ही शोध पत्र के अंतिम तृतीय भाग में आचार्य जयन्त भट्ट भाषा की मूल भूत इकाई के रूप में किसे स्वीकार करते है व शब्दार्थ सम्बन्ध के सन्दर्भ में वे नित्यानित्य में किसके समीप्य है - को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

प्रथम भाग, भाषा की मूलभूत इकाई के सन्दर्भ में मुख्यतः तीन प्रकार के मत उपलब्ध होते है। वर्णवाद, पदवाद व वाक्यवाद। भाषा व्यवहार की मूल इकाई वर्ण स्वीकार करने वाले वर्णवाद को, पद का स्वीकार करने वाले पदवाद को तथा पूरे वाक्य को भाषा की इकाई के रूप में स्वीकार करने वाले वाक्यवाद को महत्व प्रदान करते है।

मीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर भाष्य में गाय के उदाहरण के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि 'गाय' शब्द या 'गौ' शब्द वर्ण या अक्षरों वर्ण का समूह मात्र है। गाय शब्द गहआ यहअ स्वर तथा व्यञ्जन का योग मात्र के अलावा कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार हाथी - घोड़ा, गाय-गधा, राम-श्याम जितने भी शब्द है वे सभी स्वर तथा व्यञ्जनो वर्णा के मेल मात्र है। अतएव वर्ण ही भाषा की एकमात्र इकाई है। वाक्य का निर्माण पदों से व पदों का निर्माण वर्णों से स्पष्ट है वर्ण ही वह मूल इकाई है। जो शब्द व वाक्य को अर्थ प्रदान करता है। वर्णवादियों के अनुसार, वर्ण अविभाज्य है इसके विपरीत पद व वाक्य सावयव होने के चलते भाज्य और जो भाज्य है उन्हे भाषा की मूल इकाई कैसे माना जा सकता है। साथ ही यदि वर्ण या अक्षर को न माने तो अर्थवान पद या वाक्य की सत्ता को भी अस्वीकार करना होगा जोकि तर्कसंगत नही है।

किंतु न्याय दार्शनिकों के अनुसार वर्ण अर्थ प्रत्यात्मक नहीं होते, अतएव भाषा (वाक) की इकाई के रूप में वाक्य व पद का ग्रहण किया जाना चाहिए। क्योंकि पद व वाक्य ही अर्थबोधन में समर्थवान है। वास्तव में अर्थबोधानुकूल शक्ति पदनिष्ठ होती है, वर्णनिष्ठ नही। यदि वर्ण को अर्थबोधक स्वीकार भी करे तो या तो कई वर्ण मिलकर अर्थबोध करायेगे या एक वर्ण अलग-अलग। व्यस्त वर्ण अकेला अर्थबोधक नहीं हो सकता। वास्तव में देखे तो वर्ण मिलकर भी किसी अर्थ का बोध नहीं कराते क्योंकि वर्ण आशुविनाशी होते है। अतएव उनका एक काल में संयोग भी सम्भव ही नहीं है। अतएव वर्ण वाचक (अर्थवान) नही हो सकते।

पदवादियों के अनुसार, अकेला वर्ण अर्थाभिव्यक्ति नहीं कर सकता, अर्थाभिव्यक्ति तो पद द्वारा ही संभव है। यह मान्य है कि पद या वाक्य वर्ण से ही निर्मित है, किंतु किसी पद या वाक्य के निर्माण में संलग्न होने वाले वर्णो का अपना कोई अर्थ नहीं होता। उदाहरणार्थ 'राम' शब्द में 'र', 'अ' व 'म' का अपना कोई अर्थ नहीं है। वे संयुक्त हो पद का निर्माण करते है तब जाकर कही आनन्द कन्द मर्यादापुरुषोत्तम कौशल्या नंद-नन्दन श्रीराम अर्थ का अभिधान होता है। शक्ति न तो 'र' में है, न उस अकार में और न ही वर्ण में। यही नहीं यदि वर्ण से ही अर्थ की अभिव्याक्ति होती है, तब तो आगामी वर्ण की आवशकता ही न होती जबकि ऐसा नहीं होता। इसीलिए नैयायिको ने भाषा की मूलभूत इकाई के रूप में वर्गों के समूह अर्थात् पद को स्वीकार करते है।

किंतु उक्त मत के सन्दर्भ में भर्तृहरि आदि भाषा दार्शनिकों का कहना है कि वर्ण या पद की वाक्य से पृथक कोई सत्ता नहीं है। वर्ण और पद की सार्थकता वाक्य से ही है। अतएव भाषा की एकमात्र इकाई के रुप में वाक्य ही मान्य है। 'राम ने रावण का वध किया वाक्य का अर्थ इकाई रुप में ही प्राप्त होते है न कि अलग - अलग वर्णो (र, आ, म्....) या अलग – अलग पदों (राम, ने, रावण.....) के रुप में।

वाक्यवादियों के अनुसार, वाक्यों का पद व वर्ण में विभाजन व्यवहार हेतु है, इकाई स्वरुप तो वाक्य ही है। उनके अनुसार, जिस प्रकार ब्रह्म एकमात्र सत् है, जगत व जीव उस सत् से ही निःसृत है, उसी प्रकार सत्ता तो एकमात्र वाक्य की है वर्ण व पद उसके विभाजन मात्र है जो वाक्य को समझने में उपयोगी है। उनके अनुसार वाक्य के अतिरिक्त वर्ण व पद की सत्ता को स्वीकारना तर्कसम्मत नहीं है, ये सभी वाक्य में ही निहित है। अतः भाषा की इकाई वाक्य है।

किन्तु भाषा की इकाई के रूप में वाक्य को स्वीकारना भी तर्कसंगत नहीं है। कोई भी वाक्य हो एक पद मात्र उस पूरे वाक्य का अर्थ परिवर्तित कर देता है। उदाहरणार्थ- 'उसने खाना खाया' एक वाक्य है। यदि इस पूरे वाक्य में मात्र एक पद 'नहीं' जोड़ दे तो पूरे वाक्य का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। अतः वाक्य की ब्रह्मवाद से तुलना संगत नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो पद व वाक्य शब्द के ही भेद है। अंतर सिर्फ इतना है कि पद निराकांक्ष नहीं है, पद के वाचनोपरांत एक आकांक्षा बनी रहती है, जबकि वाक्य निराकांक्ष है वह पूर्ण अर्थ प्रदान कर देता है। भाषा की इकाई के रुप में 'वर्णवाद', 'पदवाद' व वाक्यवाद' की चर्चा व उनकी तर्किक समीक्षा के बाद शब्द व अर्थ के मध्य निहित सम्बंधो की चर्चा आवश्यक हो जाती है। अतएव शब्दार्थ सम्बंधों की चर्चा हेतु अब मै शोध पत्र के द्वितीय भाग की ओर अग्रसर होता हूँ।

द्वितीय भाग, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की समस्या भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण समस्या है। व्याडि से लेकर नागेश तक के सभी वैयाकरणो, वेद, उपनिषद समेत सभी दार्शनिकों ने विस्तार से विचार किया है। जहां भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के दार्शनिक विश्लेषण के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रौढ़ विचार प्रस्तुत करते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध के सन्दर्भ में अभेद व तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार करते है। उनके अनुसार अर्थ शब्द से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी, अर्थात् जो अर्थ जिस शब्द से भिन्नभिन्नात्मक होता है, उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है। अद्वैत वेदांत प्रतिपादित विवर्तवाद को वैयाकरणो ने शब्द द्वारा अर्थ प्रत्यय का आधार माना।

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं तदक्षरम् विवर्तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः'

- वाक्यपदीयम्

इसी प्रकार जैनी शब्द व अर्थ के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध को स्वीकार करते है। उनके अनुसार, शब्द व शब्दार्थ मे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि शब्द व अर्थ के मध्य

तादात्म्य सम्बन्ध होता तो शब्द के उच्चारण मात्र से वाच्य विषय की अनुभूति होती, किन्तु गुलाब जामुन के उच्चारण से उसकी स्वादानुभूति नही होती। अतः शब्द व अर्थ के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रकार उनके मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी स्वीकार्य नहीं होशब्द व अर्थ के मध्य मीमांसक भी स्वाभाविक व नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करते है। नैयायिकों की ही भांति मीमांसक भी संकेतग्रह उत्तम व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्द से तदनुरुप होने वाली क्रिया को देखकर प्राप्त करता है, स्वीकारते है।

किन्तु इस वृद्ध व्यापार में अनवस्था दोष के चलते उस आदि वृद्ध को जिसे प्रथम ज्ञान प्राप्य है- खोज पाना असंभव है। अतः मीमांसक शब्दार्थ सम्बन्ध को अनादि व नित्य मानते है। उनके अनुसार शब्द में अर्थ प्रकाशन की एक स्वाभाविक शक्ति होती है जो उच्चरित होते ही अपने अर्थ को प्रकाशित कर देती है। यह स्वाभाविक शक्ति वैसे ही है जैसे दीपक में प्रकाश या अग्नि में दाहकता।

'चित्रभानोरिव दहनशक्तिः शब्दस्य नैसर्गिकी वाचक शक्तिः

न्यायमञ्जरी भाग – 1

इस प्रकार वैयाकरणो द्वारा मान्य सम्बन्ध तथा मीमांसा सम्मत नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध की प्रतिस्थापनोपरांत उनकी समीक्षा आवश्यक हो जाती है। अतः वैयाकरणों, मीमांसको द्वारा स्वीकृत सिद्धांतो पर न्याय द्वारा किये गये आक्षेपों की चर्चा आवश्यक है।

नैयायिक वैयाकरणों को अभिप्रेत तादात्म्य सम्बंध की समीक्षा करते हुए कहते है कि शब्द व अर्थ की उपलब्धि एक साथ न होकर अलग अलग होती है। अतः इनके मध्य कभी भी किसी प्रकार के एकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। अतः तादात्व्य सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार मीमांसको द्वारा शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध नित्य स्वाभाविक नहीं होता क्योंकि शब्द और अर्थ जिन प्रमाणों द्वारा गम्य है, उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है।

'न नित्यः सम्बंधः उपपद्यते शब्दवदर्थवच्च तृतीयस्य यस्य प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात्।'

-न्यायमजरी भाग – 1

इस प्रकार स्पष्टरुपेण कहा जा सकता है कि न्याय दर्शन शब्दार्थ के मध्य अनित्य सम्बन्ध को स्वीकार करता है। भाषा की मूल इकाई के निर्धारण व शब्दार्थ सम्बन्ध की चर्चा उपरांत यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आचार्य जयन्त भट्ट भाषा की मूल भूत इकाई व शब्दार्थ सम्बन्ध में किसे स्वीकार करते है। इसके लिए हम शोध पत्र के अंतिम तृतीय भाग की ओर अग्रसर होते हैं।

तृतीय भाग, आचार्य जयन्त भट्ट शब्दार्थ सम्बन्ध के सन्दर्भ में अनित्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुये मीमांसको के नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध के खण्डनार्थ निम्नाकित आक्षेप प्रस्तुत करते हैं-

1. आचार्य जयन्त, मीमांसको द्वारा स्वीकृत शक्ति के विरोध में कहते है कि शक्ति नामक कोई सत्ता मान्य नहीं है क्योंकि इस शक्ति का कोई प्रत्यक्ष नही होता। न तो इसे प्रत्यय सदृश जाना जा सकता है न ही इस शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। उनके अनुसार, अर्थ उत्पत्ति हेतु शक्ति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अर्थग्रह शक्ति से उपपन्न न होकर समय से उपपन्न है।
2. आचार्य जयन्त के अनुसार मीमांसक अपने शक्ति सम्बन्ध की तीन प्रमाणों के माध्यम से सिद्ध करते है, किंतु यह तर्कसंगत नहीं है। उनके अनुसार, शब्दार्थ के मध्य स्थिति सम्बन्ध का

वृद्ध व्यवहार में प्रत्यक्ष तथा सांकेतिक भाषा में अनुमान द्वारा सम्बन्ध ज्ञान तो अभिप्रेत है, किन्तु तीसरा अर्थापत्ति प्रमाण मान्य नहीं है क्योंकि शब्द से अर्थ वाचकत्व शक्ति के अभाव में अन्यथा भी उपपन्न हो सकता समय से इसकी उत्पत्ति की जा सकती है। इसी प्रकार आचार्य मीमांसक सम्मत पदार्थ से वाक्यार्थबोध मत का निषेध करते हुए कहते है कि ज्ञान पद तथा वाक्यभाव को प्राप्त होने वाले क्रमिक एवं क्षणिक वर्णों द्वारा होता है। क्योंकि शब्द से न तो वाच्य विषय की उत्पत्ति होती है और न ही इसके विपरीत वाच्य विषय से शब्द की ही। शब्द व वाच्य विषय (अर्थ) दोनो पृथक अस्तित्व रखते है। अतः उनके मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं हो सकता।

'तस्माद्वर्णेभ्य एव कयाचित्कल्पनया पदवाक्यभावमुपगतेभ्यः पदार्थवाक्यार्थसंप्रत्ययः इति युक्तम्। तस्मात पदार्थजन्या न भवति वाक्यार्थबुद्धिरिति सिद्धम्, अनुपरतव्यापाराद्वा क्यादेवेयमुद्भवति।-

न्या0 म0, भाग - 1

इस प्रकार आचार्य जयन्त मीमांसा सम्मत नित्य स्वाभाविक शब्दार्थ सम्बन्ध का खण्डन करते हुये न्याभिमत 'पदवाद' तथा 'समय' व 'संकेत' पक्ष के विरुद्ध मीमांसा समेत अन्य दर्शनों के आक्षेपो का समुचित समाधान प्रस्तुत करते हुए न्याय स्वीकृत समय पक्ष का परिपोषण करते है। उनके अनुसार, शब्द व अर्थ मध्य वर्तमान 'समय' व 'संकेत सम्बन्ध नित्य या अनादि न होकर अनित्य व सादि है क्योंकि यह सृष्टि के आदि में प्रारम्भ हुआ और ईश्वर द्वारा उत्पन्न किया गया है। अतः भाषा की मूल इकाई पद व शब्दार्थ के मध्य अनित्य सम्बन्ध ही सर्वमान्य होना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आचार्य जयन्त, भट्ट का शब्द दर्शन, द्विवेदी शंकर दयाल, श्री भुवनेश्वरी विघा प्रतिष्ठान, इलाहाबाद
2. न्यायमंजरी, आचार्य जयन्त भट्ट, सम्पादक पं सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1998.
3. न्यायमंजरी, आचार्य जयन्त भट्ट, सम्पादक गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1983.
4. न्यायमंजरी, हिन्दी अनुवाद आचार्य जयन्त भट्ट, सम्पादक डॉ0 किशोर नाथ झा, (हिन्दी अनुवाद) पं आनन्द झा, कामेश्वर सिहं दरभंगा संस्कृत विवि, दरभंगा, बिहार, 2001.
5. न्यायमंजरीग्रन्थिभंग, चक्रधर, सम्पादक नागिन जे शाह, एल डी इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी, अहमदाबाद, 1972.
6. Encyclopedia of Indian Philosophy, Voll II, Korl. H. Potter, Motilal Banarasidas Delhi, 1995.
7. Prabhakar School of Purva Mimansa G. N. Jha, Allahabad University Series, Allahabad, 1911.

पातंजल योगसूत्र एवं वेदान्त परिभाषा में प्रमा का लक्षणः एक तुलनात्मक अध्ययन

विनय कुमार तिवारी, शोधार्थी (भारतीय दर्शन विभाग)
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, (म.प्र.)

सार-संक्षेपिका

पातंजल योगसूत्र योग दर्शन का शास्त्रीय ग्रंथ है। वेदान्त परिभाषा अद्वैत वेदान्त के प्रमाण मीमांसा से संबंधित महत्वपूर्ण प्रकरण ग्रंथ है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में 'चित्तवृत्ति के बोध' को प्रमा कहा गया है। वही वेदान्त परिभाषा में 'स्मृति व्यावृत्तं प्रमात्वं 'अनधिगतबाधित-विषयज्ञानत्वम को प्रमा कहा गया है। 'नहिं लक्षण प्रमाणाभ्यां बिना वस्तुसिद्धिः' अर्थात् लक्षण और प्रमाण के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने लक्षण एवं प्रमाण के संबंध में विविध प्रणालियाँ उपस्थित की हैं। किन्तु इसमें योग दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन की प्रमाण विचार प्रणाली विशेष महत्व रखती है।

पातंजल योग दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन का परम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति है। इस साध्य की प्राप्ति में ज्ञान ही साधन है। ज्ञान द्वारा ही आत्मोपलब्धि की जा सकती है क्योंकि 'आत्मा का वास्तविक स्वरूप अज्ञान के आवरण से ढका रहता है। 'अज्ञान निवृत्ति के द्वारा ही दृष्टा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि योग दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की प्रामाणिकता आदि पर विशेष आग्रह किया गया है। पातंजल योगदर्शन एवं अद्वैत वेदान्त के लक्षण एवं प्रमाण सम्बन्धी विचार प्रणाली में कतिपय महत्वपूर्ण सादृष्य एवं वैषम्य है, परन्तु दोनों के उद्देश्य में एकता है। प्रस्तुत शोध पत्र में योग दर्शन के शास्त्रीय एवं अद्वैत वेदान्त के प्रकरण ग्रंथ के आलोक में प्रमा के लक्षण को स्पष्ट किया जाएगा।
कूट शब्द- चित्तवृत्ति, बोध, प्रमा, स्मृति, अनधिगत एवं अबाधित।

पातंजल योगसूत्र एवं वेदान्त परिभाषा में प्रमा का लक्षणः एक तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तुत शोधपत्र में पातंजल योगसूत्र एवं वेदान्त परिभाषा में प्रमा के लक्षण का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन, अध्ययन की वह विधा है, जिसमें दो या दो से अधिक विषयों का किसी विषय विशेष के परिपेक्ष्य को आधार बनाकर तुलनात्मक अध्ययन करता है। 'पद्धतिमूलक दृष्टि से तुलनात्मक दर्शन का कार्य दो दर्शनों के स्वीकृत सिद्धान्तो में आंशिक एकता अथवा आपातिक भेद प्रदर्शित करना ही नहीं, बल्कि उस आधारभूत वैचारिक ढाँचे को खोज निकालना है, जो एकता एवं भेद दोनो को धारण करता हो।[1] इसका औचित्य इस बात में निहित है कि वह क्या है जो एक ही मूल के दर्शन में भिन्नता को प्रकट करता है, अथवा दो भिन्न मूल के दर्शनों में एकता को परिलक्षित करता है। प्रस्तुत शोध आलेख में तुलनात्मक अध्ययन के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पातंजल योगसूत्र एवं वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में प्रमा के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। जिसमें हमारा उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करना होगा कि योग दर्शन में वर्णित प्रमा का लक्षण किसी न किसी प्रकार से अद्वैत वेदान्त में वर्णित प्रमा के लक्षण की ओर संकेत करता है, फिर भी दोनो के प्रमा सम्बन्धी वर्णन में वैषम्य दिखाई पड़ता है। परन्तु दोनो में दर्शनों में उद्देश्यगत सादृश्य भी है, वह सादृश्य है- आत्म साक्षात्कार करना। उपर्युक्त तुलनात्मक दर्शन के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पातंजल योगसूत्र एवं वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में प्रमा के लक्षण का अध्ययन करने के पूर्व ज्ञान एवं प्रमा आदि पारिभाषिक प्रत्ययों पर प्रकाश आवश्यक है।

'ज्ञान, ज्ञा धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से बनता है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं- जानना, सम्यक् बोध, शास्त्रानुशीलन, पदार्थ का ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति, आत्मसाक्षात्कार आदि।'[2] व्यूत्पत्तिमूलक दृष्टि से ज्ञान का अर्थ बहुधा 'सम्यक् बोध, जानना' के रूप में किया जाता है। 'साधारणतः ज्ञाता की चेतना में विषय जिस रूप में उपस्थित होता है उसे बोध की संज्ञा दी जाती है।'[3] भारतीय परम्परा में बहुधा 'बोध और ज्ञान' का प्रयोग समानार्थक रूप में किया जाता है। ज्ञान के लिए तीन तत्व की आवश्यकता होती है-

1. प्रमाता
2. प्रमेय
3. प्रमाण

यही ज्ञान के तीन संघटक तत्व हैं। सामान्यतः भारतीय दर्शन में प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण के सम्मिलित रूप को ज्ञान कहा जाता है। यथा कठोपनिषद् में कहा गया है कि 'यदा पञ्चावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह[4] अर्थात्- जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ के स्थिर हो जाती हैं तब ज्ञान होता है। इस प्रकार व्यूत्पत्तिमूलक दृष्टि से ज्ञान शब्द का प्रयोग पाँचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन के माध्यम से जानने के अर्थ में किया जाता है। लक्ष्यमूलक दृष्टि से 'तैत्तरीय उपनिषद्' में कहा गया है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[5] अर्थात्- ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्म सत्यस्वरूप वाला, ज्ञानमय-चित्स्वरूप, अनन्त-सर्वव्यापक, आदि अन्त से रहित है'। इस प्रकार भारतीय दर्शन में ज्ञान को व्यूत्पत्ति की दृष्टि 'जानने के अर्थ में' एवं लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्व साक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है।

प्रायः प्रमा के स्वरुप को लेकर भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय की अपनी-अपनी तत्वमीमांसा के अनुरूप ही प्रमा के स्वरूप का निरूपण किया है। ज्ञान, प्रमा आदि को लेकर भारतीय दार्शनिक ने बहुत सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। यह लक्षिति करने की बात है कि प्रत्येक तर्कशास्त्रीय पद्धति एवं ज्ञानमीमांसीय पद्धति का किसी न किसी तत्वदर्शन या तत्वमीमांसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[6] 'यथा लक्षितिमूलक दृष्टि' वेदान्त-कौमुदीकार के शब्दों में 'तत्वानुभूतिः प्रमा'[7] अर्थात 'तत्व की अनुभूति ही प्रमा है' या तत्व साक्षात्कार ही प्रमा है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में प्रमा 'अर्थ में व्याप्त होने वाला बोध है, जो विपर्यय द्वारा अबाधित है'।[8] व्यूत्पत्तिमूलक दृष्टि से 'प्र पूर्वक मा धातु से निष्पन्न प्रमा पद का अर्थ होता है प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान।'[9] वरदराज अपने 'तार्किकरक्षा' नामक ग्रन्थ में प्रमा को यथार्थ अनुभव के रूप में परिभाषित किया है ठयथार्थानुभवः प्रमा''। इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रमा को व्यूत्पत्ति की दृष्टि 'यथार्थ ज्ञान' एवं लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्व साक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है। सामान्यतः भारतीय दर्शन में लक्ष्य की दृष्टि ज्ञान एवं प्रमा दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है।

'नहिं लक्षण प्रमाणाभ्यां बिना वस्तुसिद्धिः'[10] अर्थात्- 'लक्षण और प्रमाण के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने लक्षण एवं प्रमाण के संबंध में विविध प्रणालियाँ उपस्थित की हैं, किन्तु इसमें योग दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त की प्रमाण विचार प्रणाली विशेष महत्व रखती है। महर्षि पातंजलि द्वारा सूत्रशैली में रचित सुव्यवस्थित ग्रन्थ 'योगसूत्र' है। इस ग्रन्थ में चार पाद और 195 सूत्र हैं- समाधिपाद (51), साधनपाद (55), विभूतिपाद (55) एवं कैवल यपाद (34)। योगसूत्र के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[11] अर्थात्- चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है। योगसूत्र में प्रमा के स्वरूप को जानने से पहले चित्त के स्वरूप को समझना आवश्यक हो

जाता है। क्योंकि योगदर्शन समस्त विषयों को चित्तवृत्तियों के पदों में परिभाषित करता है। प्रत्यक्षादि बोध, संस्कार बोध, प्रवृत्ति बोध, सुखादि के अनुभव का विशेष बोध, ये सभी बोध चित्तवृत्ति हैं।[12] 'वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः'[13] योगदर्शन में समस्त वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप से पाँच प्रकार की है। 'प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः'[14] प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच वृत्तियाँ है। सामान्यतः दार्शनिकों की मान्यता है कि किसी पदार्थ का विभाग करने से पहले उसके सामान्य तथा विशेष लक्षण किया जाना चाहिए। परन्तु पतंजलि योगसूत्र में प्रमा का सामान्य लक्षण न कर सीधे प्रमाण का विवेचन किया गया है।

योगसूत्र के व्यासभाष्य से योग दर्शन में प्रतिपादित प्रमा के स्वरूप का संकेत प्राप्त होता है। व्यासभाष्य के अनुसार चित्त के यथार्थ विषय की प्रकाशक शक्ति प्रमा होती है और समाधिजात प्रज्ञा ही प्रमा का चरम उत्कर्ष है।[15] योगदर्शन में ज्ञान बुद्धि की वृत्तिरूप है जिसे क्रिया या पर्याय कहा जा सकता है। इनके अनुसार तैजस अन्तःकरण या बुद्धि का प्रकाश इन्द्रियों के माध्यम से विषय के आकार में परिणत हो जाता है। उसे बुद्धिवृत्ति कहा जाता है और यह अचेतन बुद्धि जब चेतन के प्रकाश से सचेतन हो जाती है तो इसे बोध कहते हैं। योग दर्शन के अनुसार जाग्रत अवस्था प्रमाण प्रधान होती है। इसलिए समस्त प्रवृत्ति और स्थिति वृत्तियाँ बोध ही है। योग दर्शन में बोध सब प्रकार की वृत्तियों में मुख्य होता है। व्यासभाष्य के अनुसार 'जितने प्रकार के बोध हैं वे मूलतः द्विविध हैं, प्रमाण और अनुभव। इनमें प्रमाणरूप बोध करण-बाह्य-पदार्थ विषयक होता है। अनुभव करणगत-भाव-विषयक होता है। अनधिगत तत्व का बोध प्रमा है, यह प्रमा का दूसरा अर्थ है। प्रमा के इस लक्षण द्वारा स्मृति से प्रमा का भेद सूचित होता है'।[16] पूर्व में उद्धृत है कि विपर्यय द्वारा अबाधित बोध प्रमा है। अधिगत विषय का ज्ञान स्मृति है। अस्तु पातंजल योगदर्शन में प्रमा का लक्षण अबाधित एवं अनधिगत विषय का बोध प्रमा है।

वेदान्त परिभाषा में प्रत्यक्ष परिच्छेद के अर्न्तगत प्रमाणों की विवेचना के पूर्व 'प्रमा' के स्वरूप का विवेचन हुआ है। वेदान्त परिभाषाकार 'प्रमा' का प्रथम लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'तत्र स्मृतिव्यावृत्तिं प्रमात्वं, 'अनधिगताबाधित-विषयज्ञानत्वम्'।[17] अर्थात्- प्रथमतः स्मृति में न जाने वाला प्रमा का लक्षण अनाधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। 'यहाँ पर स्मृति को छोड़कर केवल अनुभवात्मक प्रमा का 'अनाधिगताबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम' यह लक्षण किया गया है। इसमें 'प्रमात्व' यह लक्ष्य है और 'अनधिगत-अबाधित-विषयज्ञानत्वम' यह लक्षण है।'

वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'अनिधगत' का अर्थ है- पूर्व ज्ञात न हुआ। अर्थात्- जिसका ज्ञान पहले न हुआ हो या नवीन है। पुनश्च अबाधित का अर्थ है- जो दूसरे प्रमाण से मिथ्या न सिद्ध होने वाला जो विषय है, उसका ज्ञान ही प्रमा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेदान्त परिभाषा में प्रथमतः प्रमा का लक्षण है- नवीन एवं उत्तर ज्ञान से बाधित न होने वाला विषय ज्ञान ही प्रमा है। वेदान्त परिभाषाकार का स्पष्टीकरण है कि 'प्रमा' लक्षण में 'अनाधिगत' विशेषण लगाने से स्मृति के विषय का निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार 'अबाधित' विशेषण लगाने से बाधित विषय का निराकरण भी हो जाता है। जैसे - 'शुक्तौ इदं रजतम' शुक्ति (सीप) में रजत(चाँदी) का ज्ञान होता है कि इस विषय का ज्ञान रजत है, परन्तु उसका प्रमाण के द्वारा विवेचन किये जाने पर बाध होता है, अतः शुक्ति में होने वाला रजत ज्ञान प्रमा नहीं है। इस प्रकार वेदान्त परिभाषा में 'अनाधिगत और अबाधित विषय का जो ज्ञान है, वही प्रमा है' यह लक्षण स्मृति में घटित न होने से केवल अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण है। पुनश्च परिभाषाकार के मत 'विषयज्ञानत्वम' इस शब्द में जो 'ज्ञान' शब्द है, वह 'प्रमा' का स्वरूप बताने के लिए प्रयुक्त

है क्योंकि इच्छादि अन्तःकरण-वृत्तिरूप नहीं है। इच्छा भी एक प्रकार का अन्तःकरण-वृत्तिरूप ज्ञान ही है, परन्तु 'अनधिगत' इस विशेषण से इच्छादि का निराकरण हो जाता है क्योंकि ज्ञात हुए अनाधिगत विषय में ही इच्छादि उत्पन्न होती है।

वेदान्त परिभाषा की विशेषता यह कि 'वह अबाधित स्मृति प्रमा की कोटि में लाने का प्रयास करता हैं', इसलिए परिभाषाकार प्रमा का दूसरा लक्षण करते हुए लिखते हैं कि 'स्मृतिसाधारणं तु 'अबाधित-विषयज्ञानत्वम'।[18] अर्थात् स्मृति तथा अनुभव इन दोनों ज्ञानों में जो साधारण अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है, यही स्मृति साधारण प्रमा है। इसलिए जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता है एवं उत्तरज्ञान से बाधित नहीं होता ऐसी स्मृति को कुछ लोग प्रमाण मानते है। प्रमा की इस परिभाषा में परिभाषाकार 'अबाधित-विषयज्ञानत्वं प्रमाणत्वम' यह लक्षण किया है और 'स्मृतिसाधारणं' यह लक्ष्य है। यहाँ पर साधारण का अर्थ 'अनेक में रहने वाला' है, 'उत्तर ज्ञान में बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है'। यह लक्षण स्मृति एवं अनुभव दोनो ज्ञानों समान रूप से घटित होता है। इसलिए प्रमा का यह लक्षण स्मृति-साधारण है। जैसे- प्रथमतः यह घट है ऐसा ज्ञान होता है और उसका किसी उत्तर ज्ञान से बाध नहीं होता है। इस ज्ञान से अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते है, इसी संस्कार से आगे चलकर कुछ समय के बाद उसी घट का स्मरण होता है। इस स्मृति का विषय अबाधित घट होने से यह स्मृति प्रमा है। इसलिए अबाधित घट ज्ञान भी प्रमा है। इसके विपरीत रज्जु-सर्प का ज्ञान होने पर उसके समीप जाकर यह देखा जा सकता है कि यह सर्प है या नहीं? इस प्रकार प्रमाण के द्वारा यह ज्ञात होता है कि यह रज्जु है, सर्प नहीं। इस उत्तर ज्ञान से पहले उत्पन्न सर्प ज्ञान का बाध हो जाता है। यहाँ पर सर्प रूपी विषय का बाध होता है प्रमा का नहीं। ऐसे बाधित विषय की बाद में होने वाली स्मृति भी प्रमा नहीं होती है। इसलिए स्मृति और अनुभव दोनों 'प्रमा' का 'अबाधित-विषयज्ञानत्वम' यह साधारण लक्षण है।

अस्तु उपरोक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि अबाधित एवं अनाधिगत विषय का बोध ही पातंजल योगसूत्र एवं वेदान्त परिभाषा में प्रमा का सामान्य लक्षण है। योग दर्शन में वर्णित प्रमा का लक्षण किसी न किसी प्रकार से अद्वैत वेदान्त दर्शन में वर्णित प्रमा के लक्षण की ओर संकेत करता है, फिर भी दोनों दर्शनों के प्रमा सम्बन्धी वर्णन में वैषम्य दिखाई पड़ता है। परन्तु दोनों दर्शनों में उद्देश्यगत सादृश्य भी है, वह सादृश्य है- आत्म साक्षात्कार करना।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कार्यकारणभाव (विद्वत् परिचर्चा), प्रका. श्री वल्ल्भाचार्य ट्रस्ट, गुजरात, 2004. में डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का आलेख, पृ॰ 116.
2. कुमार, शशिप्रभा, शुक्ल, संतोष कुमार, झा, रामनाथ (सम्पा.) 2014. दार्शनिक सम्प्रत्यय-कोष, डी॰के॰ प्रिन्टवर्ल्ड प्रा॰लि॰, नई दिल्ली- 110015, पृ॰ 71.
3. सिन्हा, नीलिमा, 2005. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली- 110028 पृ॰ 3.
4. कठोपनिषद्- 6/10.
5. तैत्तरीयोपनिषद्- 2/1/1.
6. मिश्र, हृदयनारायण, 2013. भारतीय दर्शन, शेखर प्रकाशन, प्रयागराज (इलाहाबाद)- 211001, पृ॰ 22.

7. शास्त्री, सुब्रह्मण्यम (सम्पा.) 1955. रामाद्वयाचार्यप्रणीत वेदान्तकौमुदी, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास- 600005, पृ॰ 244.
8. भट्टाचार्य, रामशंकर (सम्पा.) 2007. पातंजल योगदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली- 110007, पृ॰ 22.
9. झा, किशोर नाथ (अनु.), शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्रा, सच्चिदानन्द (सम्पा.) 2015. न्यायदर्शनम्, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली- 110062, पृ॰ 142.
10. शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि. व्या.) 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी- 221001, पृ॰ 9.
11. योगसूत्र- 1/2.
12. भट्टाचार्य, रामशंकर (सम्पा.) 2007. पातंजल योगदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली- 110007, पृ॰ 20.
13. योगसूत्र- 1/4.
14. योगसूत्र- 1/5.
15. भट्टाचार्य, रामशंकर (सम्पा.) 2007. पातंजल योगदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली- 110007, पृ॰ 29.
16. भट्टाचार्य, रामशंकर (सम्पा.) 2007. पातंजल योगदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली- 110007, पृ॰ 23.
17. शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि. व्या.) 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी- 221001, पृ॰ 9.
18. शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि. व्या.), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी- 221001, पृ॰ 9.

योग की प्राचीनता और उसकी आधुनिक प्रासंगिकता

प्रभाकर पाण्डेय

शोधछात्र, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सारांश : *योग अति प्राचीनतम विज्ञान है। वेदकाल से लेकर आधुनिक काल तक के सभी ऋषि, सन्त, विद्वान, साहित्यकार, मनोवैज्ञानिक आदि योग की महिमा को स्वीकार करते हैं। विभिन्न प्राचीन साहित्य में योग के प्रथम आचार्य श्रेग कान्तहरिण्यगर्भ को दिया गया है। प्राचीन साहित्य में उपलब्ध शिक्षा प्रणाली पर दृष्टिक्षेप करने से प्राचीन काल में योग के अन्तर्गत शरीर, मन और आत्मा इन तीनों को सम्मिलित किया गया था ताकि व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास हो सके शारीरिक स्थित पर देखा जाय तो व्यक्ति कर्म में विश्वास रखते हुए कर्म करते हुए आगे बढ़े वह 'योगी' है। अपने जीवन में वर्तमान समय में भी योग व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होता है। योग शब्द 'युज' धातु से लिया गया है इसलिए इसका अर्थ है जोड़, गीता के अनुसार - 'आत्मा में स्थित होकर सहज ही परमात्मा से मन को जोड़ना तथा परमात्मा से संस्पर्श करके अनन्त आनन्द में स्थित होना 'योग' है।*

पारिभाषिक शब्द : *हिरण्यगर्भ, आर्ष, ऋतम्भरा प्रज्ञा, संस्कृति, वैदिक समाधि।*

शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक संस्कृति के रूप में योगासनों का इतिहास समय की अनन्त गहराइयों में छुपा हुआ है। मानव जाति के प्राचीनतम साहित्य वेदों में इनका उल्लेख मिलता है। वेद आध्यात्मिक ज्ञान के भण्डार है। इसके रचयिता अपने समय के महान् आध्यात्मिक व्यक्ति थे। कुछ लोगों का ऐसा भी विश्वास है कि योग विज्ञान वेदों से भी प्राचीन है। योग विद्या अति प्राचीन काल से ही भारतीयमनीषियों के अन्तःकरण में विमल मन्दाकिनी की अविचल धारा की तरह प्रवाहित होती आ रही है। योग हमारे पूर्वज व ऋषियों का ऐसा विज्ञान है, जिसकी उपज हमारे समस्त दर्शनशास्त्र कहे जा सकते हैं। केवल दर्शनशास्त्र ही नहीं ऋति, स्मृति, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र तथा ज्योतिष आदि सभी विधाएं इसी योग शास्त्र के द्वारा प्राप्त हुई है। इस योग विधा की एक कल्पतरू वृक्ष से तुलना की गयी है। योग की अलौकिकता की हमारे समस्त वांग्मय में प्रशंसा की गयी है। इस योग साधना द्वारा आध्यात्म धर्म एवं सम्प्रदाय के साधकों ने योग की प्रशंसा की है, तथा इस मार्ग के अनुकरण की प्रेरणा दी है।

योग वस्तुतः हमारे ऋषियों द्वारा प्रतिपादित आर्ष ग्रन्थो से निकला हुआ है, जिसे हमारे ऋषि मुनियों ने मानव कल्याण के लिए प्रतिपादित किया है। वेद, पुराण, उपनिषद, दर्शन तथा टीकाओं में योग का प्रचलन अवश्य ही था।

भारत में ही नहीं वरन् विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदों में ही सर्वप्रथम योग का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम, नवम मण्डल में यह संकेत मिलता है वैदिक शिक्षा सभी प्रकार से मनुष्य के लिए उपकारी थी। उन मनुष्यों के लिए भी, जो कि अति मलिन अन्तःकरण वाले थे, तथा जो सांसारिक बन्धनों में बधे हुए थे। उन मलिन चित्त में ज्ञान उदय नहीं हो सकता था। उनके चित्त की शुद्धि के लिए कर्मकाण्ड पर आधारित यज्ञ, जप, दान आदि कर्म बताये गये। चित्त की शुद्धि के बाद जब उसमें ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता आ गयी तब उन्हें कर्मकाण्ड से हटाकर परमात्मा के स्वरूप में लगाया गया है। जिसका स्पष्ट संकेत ऋचा में मिलता है-

'ऋचो अक्षर पर मे व्योम - समासतेः।'1 — ऋग्वेद 1/64/39

वेदो में प्रतिपाध विषय ब्रह्मज्ञान ही है, तथा ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति ही वेदज्ञानी हो सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि योग विधा का प्रारम्भ वेदों से ही हुआ।

आधुनिक शोधों से स्पष्ट हुआ है कि योग सिन्धु कालीन सभ्यता से प्रारम्भ हुआ है। पुरातत्वविदो ने कुछ समय पहले मोहनजोदड़ो में धार्मिक अवशेष प्राप्त किये हैं। उनमें जो मूर्ति मिली है, वह त्रिमुखी है, तथा वह योग मुद्रा में बैठी हुई है। इससे समझा जा सकता है कि सैन्धव कालीन सभ्यता में यौगिक विचार धारा का प्रचलन उस समय भी था। आधुनिक शोधों से पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता, वैदिक सभ्यता के पश्चात् वैदिक मूलक सभ्यता है। यह सभ्यता भारतीय संस्कृति की प्रबल विशेषता लिए हुए संस्कृति थी जो कि मिश्रित संस्कृति से युक्त थी। योग का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल से पूर्व ही हो जाता है। योग का किसी काल से सम्बद्ध करना सही नहीं है। क्योंकि यौगिक ज्ञान काल की सीमाओं से परे है, तथा मनुष्य की अन्तरात्मा से सम्बद्ध ज्ञान है।

योग अति प्राचीनतम ज्ञान है। वेद काल से लेकर आधुनिक काल तक के सभी ऋषि, सन्त, विद्वान, साहित्यकार, मनोवैज्ञानिक आदि योग की महिमा को स्वीकार करते हैं। विभिन्न प्राचीन साहित्यों में योग के प्रथम वक्ता का श्रेय हिरण्यगर्भ को दिया गया है। विभिन्न वैदिक ग्रन्थों में हिरण्यगर्भ का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार - 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।'

याज्ञवल्क्य स्मृति2 12/5

हिरण्यगर्भ योग के आदिवक्ता हैं अन्य कोई नहीं।

महाभारत में योग के आदिवक्ता हिरण्यगर्भ का वर्णन इस सुक्ति से प्राप्त होता है -

"सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्चेत।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।।" महाभारत 3, 2/394/65

अयति सांख्य के वक्ता परमऋषि कपिल कहे गये हैं, और योग के प्राचीन वक्ता हिरण्यगर्भ कहे गये हैं।

श्रीमद्भागवत् में भी इसी अभिप्राय का वर्णन मिलता है -

"इदं हि योगेश्वर योगेनपुणं हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद् यत् ।
यदत्तकाले त्वयि निर्गुणयने, भक्ता दीदितोज्यिक्त दुष्कलेवर।।"

महाभारत3 2/394/65

अयति हे योगेश्वर मनुष्य अनन्त काल में देहाभिमान त्यागकर आपके निपुण स्वरूप में चित्त लगाए। इसे ही भगवान हिरण्यगर्भ ने योग की सबसे बड़ी कुशलता बताया है।

सामान्यतः सात हिरण्यगर्भो का वर्णन मिलता है जो निम्न हैं।

पहले हिरण्यगर्भ - सूर्य, 1- तत्व रूप में, 2- ऋषि रूप में,
दूसरे हिरण्यगर्भ - बुद्धि या महत्तत्व
तीसरे हिरण्यगर्भ - आचार्य हिरण्यगर्भ
चौथे हिरण्यगर्भ - शिव के शिष्य
पाँचवे हिरण्यगर्भ - उर्जा ऋषि के पिता
छठे हिरण्यगर्भ - ऋषि परमेष्ठी प्रजापति के पुल
सतवें हिरण्यगर्भ - प्रजापति ब्रह्मा जी

सातवें हिरण्यगर्भ स्वयं प्रजापति ब्रह्मा जी हैं, ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम योग रूप तप क्रिया और जीवन सृष्टि रचित की थी। ब्रह्मा जी ने ब्रह्म संहिता नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र जो योग को प्रतिपादित करते हैं, और प्रजापति ब्रह्मा ही चारों वेदों के ज्ञाता है।

अतः सृष्टि के आदि कालिक देव और वेदज्ञ होने के कारण ब्रह्मा जी (सातवें हिरण्यगर्भ) को ही योग का वक्ता मानना स्पष्ट ही न्यायसंगत एवं तर्क संगत है।

उपरोक्त तथ्यों कि आधार पर हम कह सकते हैं कि एक तत्वदर्शी ऋषि जिन्होंने मानवजीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्रदान करने वाली योग विधा को सूत्र रूप में महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र नामक महान ग्रन्थ की रचना की। सृष्टि के प्रारम्भ के साथ-साथ ही मनुष्य के दुःखों के शमन हेतु योग विधा सहज ही प्राप्त रही है। मानव के अलग-अलग कालों में योग के अलग स्वरूपों को आत्मसार किया जो निम्न है-

वैदिक काल -

वेदों में ऋग्वेद की 21 शाखाएँ, यर्जुवेद की 101 शाखाएँ, सामवेद की 1000 शाखाएँ और अर्थवेद की 'शाखाओं सहित कुल 1131 शाखाएँ वर्तमान में उपलब्ध है। वेद की इन सभी शाखाओं में माँग परक मन्त्र मिलते हैं।

यर्जुवेद के इस मन्त्र में योगाभ्यास करने का उपदेश मिलता है, जिसका वर्णन निम्न हैः

''युजे वॉ ब्रह्म पूर्व्य नमोमिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्म पुत्रा आ ये धामानि दिव्याति तस्थुः। यर्जुवेद4 11/5

योग में ब्रह्म का साक्षात्कार करना अपने स्वरूप में स्थित होना मानव जीवन का परम लक्ष्य माना गया है, इस स्थिति को समांधि की संज्ञा दी गयी है वेदों में समार्धि का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

''स द्या नो योग आ भुवत स रामे स पुरंध्याय् गमद् बाजे मिरा स नः।''

– ऋ 1/5/3/1 सा05 30/2/1011 अथर्व06 20/26/9

अर्थात् ब्रह्म का समाधि की स्थिति में दशरन हेतु आह्वान किया गया है, और ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति की इच्छा की गयी है योग विधा के विभिन्न अंगों का चारों वेदों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर वर्णन मिलता है।

उपनिषद काल -

भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उपनिषद वैदिक साहित्य और दार्शनिक चिन्तन की विचारधारा से युक्त है।

उपनिषदों में शंकराचार्य के भाष्य मुक्त उपनिषद ईश, केन, कठ, प्रश्न माण्डुक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य वृहदारण्यक आदि उपनिषदों में योग विद्या का विस्तार से वर्णन है। उपनिषद् का प्रमुख विषय ब्रह्मविद्या है। कैवल्योउपनिषद में श्राद्धा- भक्ति और ध्यान के द्वारा आत्मा को जानने को योग कहा है।

यथा - ''श्रद्धा भक्ति योगादघेहि।''

वहीं योग शिखोउनिषद में मन्त्र योग, लययोग, हठयोग और राजयोग इन चारों को चतुर्विध योग बताया है। इसे महायोग की संज्ञा दी गयी है।

मण्डुक उपनिषद में ब्रह्म हृदय में ज्योतिषमानरूप में विद्यमान है। उसके स्वरूप व स्थिति को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही योग है।

यथा - ''अन्तःशरीर ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्चतियतमः क्षीण दोषाः।''

मण्डुक7 3/1/5

दर्शनों का काल -

बौद्ध दर्शन में अष्टांग मार्ग के समान ही अर्याष्टिगिक मार्ग का वर्णन है, और यम के समान पंचशील के सिद्धान्त का वर्णन है। बौद्ध दर्शन में योगागो को आसन, प्राणायाम, ध्यान का भी वर्णन प्राप्त होता है। बौद्ध दर्शन में योग की ही भाँति ब्रह्म तत्व का ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश है, और इसे निर्वाण की संज्ञा दी गयी है।

जैन आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग की आठ दृष्टियाँ बतायी है यथा - ''मित्रा तारा, बला दीप्ता स्थिरा कात्ता प्रभा परा नामानि योगदृष्टिनां।''

योग की ही भाँति जैन दर्शन में मिथ्यादर्शन (अविद्या को बंधन बताते हुए समग्र कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष द्वारा अपने नैसर्गिक स्वरूप को प्राप्त करना ही योग है। योग ही भाँति वेदान्त में ब्रह्म को सीमा रहित माना गया है।

''नात्मा शरीर सम्बन्धों शरीरमपि नात्मनि।

मियो विलक्षणावेतो प्रकाशतमशी यथा।।'' योगवशिष्ठ[8] 6.1.6.6।

अर्थात् आत्मा शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जहा व्यक्ति यह भेद जान लेता है। तो वह ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त कर लेता हैं। वेदान्त के साधन चतुष्टय (नित्य - अनित्य, वस्तु विवेक, वेराग्य, षट सम्पत्ति और युमुक्षत्व) को साधन बनाकर ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश दिया है। ये साधन योग में ज्ञान योग, भक्तियोग, कर्मयोग के समान है।

ब्रह्मसूत्र'' (4/1/7) में 'आसीनः सम्भवात।' में आसन में बैठकर उपासना करने को कहा गया है।

साख्यदर्शन में महर्षि कपिल ने सांख्य सूत्र' 3/30 में 'रागोपहितिध्यनिम्' में ध्यान का वर्णन किया है।

'धारणासनस्वकर्मणातत्सिद्धि' (सांख्यसूत्र' 3/32) में धारणा और अन्य योगिक कर्मों द्वारा वृत्ति निरोध समाधि को प्राप्त करने का आदेश दिया है।

न्याय दर्शन में यम, नियमों और अन्य आध्यात्मिक विधि द्वारा आत्मा के संस्कार की बात कही गयी है -

'तदर्थ यमनियमाभ्यात्मसंस्कारो योगाक्चाध्यात्म विध्युपाये।''[10]

न्यायसूत्र 4/2/46

वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद योग से मन के संयोग द्वारा आत्मसाक्षात्कार का वर्णन करते है वही योग सूत्र में महर्षि पतंजलि योग हेतु अभ्यास और वैराग्य क्रियायोग और अष्टांग योग का वर्णन क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कोरि के साधकों हेतु प्रशस्त है। हाँ निश्चित रूप से आधुनिक युग में हमारा जीवन पूर्णतः मशीनों पर निर्भर करता है हमारी आदते, हमारे रहने का ढंग बिल्कुल कृत्रिम है। हमारा जीवन प्रकृति से बहुत दूर हट चुका है और अनेक रूपों में उसने अपने मूल सौन्दर्य को खो दिया है। आज हमारा भोजन रसायनों का मिश्रण रह गया है, जो निश्चित रूप से हमारे शरीर एवं व्यक्तित्व पर बहुत गहरा प्रभाव डालता है। योगासनों का अभ्यास हमें पुनः अपना मूल स्वास्थ्य और ज्ञान सौन्दर्य प्रदान कर सकता है।

शारीरिक आराम और इन्द्रिय सुख के लिए आधुनिक मनुष्य के पास अनेक सुविधाएँ है आरामदायक मोटे-मोटे गद्दों पर सोता है, हर जगह कार से यात्रा करता है, मनोरंजन के लिए

सिनेमा देखता है और आधुनिक जीवन में नकारात्मक प्रभावों पर काबू पाने के लिए शान्ति और विस्राम की खोज में नीद की गोलियाँ लेता है। लेकिन फिर भी उसे अनेक प्रकार के शारीरिक,मानसिक और भावात्मक तनावों का सामना करना पड़ता है। उससे मुक्त होने का उसे कोई रास्ता नहीं मिलता । क्या ऐसा कोई उपाय है जिससे उसे आराम मिल सके? हाँ योगभ्यास के द्वारा योगासनों के अभ्यास से वह आधुनिक सभ्य जीवन से अपने आप को मुक्त कर सकता है। योग के अभ्यासी जीवन के उत्तरदायित्वों एवं समस्याओं का सामना करने के लिए अपने में अधिक शक्ति और स्फूर्ति पायेंगे। व्यक्ति का जीवन अधिक सामंजस्य पूर्ण हो जायेगे।

वैज्ञानिक आविष्कारों के इस आधुनिक युग में जीवन सुखदायी बनाने के असंख्य साधन है, परन्तु वे सभी साधन अस्थायी है योग के अभ्यास से आप एक नये जीवन का अनुभव करेंगे। जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण उत्पन्न होगा और इस प्रकार धीरे-धीरे 'विश्व बन्धुत्व' की भावना जागृत होने लगेगी।

आजकल बहुत से लोग विशेषतः युवा अपने जीवन में कुछ अर्थ और व्यवस्था खोजने के लिए मादक पदार्थों का सेवन शुरू कर दिया है ऐसे लोग जीवन का अर्थ समझ सके, इसके लिए योग (आसनो सहित) ही एक उचित मार्ग है जिससे उनमें अन्तर्दृष्टि विकसित होने लगेगी और योग का नियमित अभ्यास उन्हें अन्तिम लक्ष्य तक ले जायेगा जिसके परे कोई लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार अनेक दृष्टिकोण से आधुनिक युग में भी योग की प्रासंगिकता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन साहित्य में उपलब्ध योग से सम्बन्धित दार्शनिक अभिव्यक्ति जीवन का उच्चतम और आदर्श है। प्राचीन भारतीयों को जीवन के समस्त अंगों को स्वस्थ एवं विकसित अवस्था में रखने के लिए योग दर्शन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है और वर्तमान समय में इसकी उपयोगिता सिद्ध हो रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ऋग्वेद 1/64/39
2. वही 1/5/3/1
3. याज्ञवक्ल्य स्मृति 12/5
4. महाभारत 2/394/65
5. वही 2/394/64
6. यर्जुवेद 11/5
7. सामवेद 30/2/1011
8. अर्थवेद 20/26/9
9. मण्डुक उपनिषद 3/1/5
10. योगवशिष्ठ 6.1 . 6.6
11. सांख्य सूत्र 3/30
12. वही 3/32
13. न्याय सूत्र 4/2/46
14. ब्रह्मसूत्र 4/1/7

मानवाधिकार का दर्शन और कुछ प्रमुख समसामयिक समस्याओं का आनुभविक मूल्यांकन

देवेश कुमार पाण्डेय
शोध-छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहबाद विश्वविद्ययालय, प्रयागराज

समसामयिक समय में घटित कुछ महत्वपूर्ण व्यावहारिक समस्याएं ऐसी हैं जहाँ मानव के अधिकारों के अतिक्रमण से सम्बन्धित चर्चा महत्वपूर्ण रही है। यथा, शरणार्थी समस्या, चीन के उईगर समुदाय की समस्या, तथाकथित भीड़-हत्या (मॉब-लिंचिंग) की समस्या और सम्प्रभु-राज्य की भूमिका निर्धारित करने की समस्या आदि। यह अतिक्रमण महत्वपूर्ण इसलिए हो जाता है जब इस विषय पर स्वस्थ्य-चिन्तन की अपेक्षा राजनीतिक पूर्वाग्रहों से प्रेरित चिन्तन किया जाता है। यहाँ पर राजनीतिक-पूर्वाग्रहों से तात्पर्य कुछ विशेष विचारधारा के चिन्तक या चिंतकों के समूह से है जो कुछ विशेष सामाजिक-राजनीतिक सत्ताविषयक स्वार्थों से प्रेरित होकर चिन्तन करने के लिए बाध्य होते हैं और उनका चिन्तन कुछ नस्ल या राष्ट्र की सीमाओं अथवा विशेष विचारधारा से प्रेरित होता है। इस तरह के पूर्वाग्रहों में पहले से कुछ माना हुआ रहता है और फिर उसका सामान्यीकरण कर कुछ विशिष्ट-निहितार्थ निकाल लिया जाता है। अर्थात् पूर्व में प्राप्त कुछ व्यक्तिगत अनुभवों का सामान्यीकरण करके उसका व्यापक निष्कर्ष निकाला जाता है। प्रश्न है कि क्या सभी व्यावहारिक समस्यायों का कारण-निर्धारण एक ही प्रस्थान-बिंदु से निगमित किया जा सकता है? मानवाधिकारों के सम्बन्ध में इस विषय पर वृहद चिन्तन की आवश्यकता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में मानवाधिकार से सम्बन्धित इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं का विश्लेषण और उनका आनुभविक मूल्यांकन किया गया है। यथा, प्रथम, मानवाधिकार का दर्शन क्या है और उनकी समसामयिक प्रवृत्ति तथा द्वितीय, समसामयिक समय में घटित कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का आनुभविक तथ्यों के आधार पर मूल्यांकन।

मानवाधिकार का दर्शन यह है कि जब हम किसी भी तरह के अधिकारों की बात करते हैं तो वह विभिन्न प्रकार के सत्ताओं(तत्त्वमीमांसीय आधारों) से सम्बंधित होता है। यहाँ सत्ता का तात्पर्य यह है जो पहले से स्थापित हो और हमें कुछ अधिकार प्रदत्त करती है यथा आत्मरक्षा का अधिकार। जब हम इस तरह के अधिकारों की बात करते हैं तो दो तरह की सत्ताओं के सन्दर्भ में करते हैं, प्रथम, प्राकृतिक और द्वितीय, मानव द्वारा निर्मित संस्थाओं के सम्बन्ध में। प्रकृति प्रदत्त अधिकारों में, आत्मरक्षा अथवा जीवन की सुरक्षा का और स्वतंत्रता का अधिकार महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जॉन लॉक ने अपने राजनितिक चिन्तन में सम्पत्ति के अधिकार को भी प्राकृतिक अधिकार की श्रेणी में रखा है।[1] हालाँकि ये प्राकृतिक अधिकार सभी प्राणियों के लिए प्रदत्त हैं। परन्तु जब हम किसी विशिष्ट सत्ता-सम्पन्न प्राणी विशेषतः मानव-सत्ता के सन्दर्भ में प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या करते हैं तो उसके अपने विविध निहितार्थ होते हैं। वास्तव में सरकार की स्थापना इन्हीं प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए एक न्यास के रूप में की जाती है, लॉक का ऐसा मानना है।[2] क्योंकि मानव एक बुद्धिमान सामाजिक-राजनीतिक प्राणी है, इसलिए वह विभन्न सामाजिक-राजनितिक संस्थाओं को निर्मित कर अपना एक विशिष्ट संविधान अपनाकर स्वयं के अधिकारों की वैधता का निर्धारण करने का प्रयास करता रहता है। यह अधिकार मानव से सम्बंधित होने के कारण मानवाधिकार के रूप में जाने जाते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मानव होने के कारण उससे सम्बन्धित मानवअधिकार का दर्शन क्या है और उसकी समसामयिक संकल्पना क्या है? मानवाधिकार, मानव और अधिकार दो शब्दों के संयोजन से बना है। जिसका शाब्दिक अभिप्राय है- मानव के ऐसे अधिकार जिनके बिना एक मानव अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के बारे में विचार नहीं कर सकता है जो मानव के मानव होने के लिए जरुरी है।[3] मानवाधिकार ऐसे अधिकार हैं जो किसी भी व्यक्ति के मानव होने के कारण प्रदत्त हैं। ये अधिकार सुनिश्चित करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा उसके मानव होने के कारण सामान है। किसी के साथ भेदभाव, राष्ट्र, धर्म, जाति, अथवा लिंग के आधार पर नहीं होना चाहिए।[4] मानवाधिकारों को केवल नागरिक अधिकारों तक सीमित नहीं किया जा सकता है। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि मानवाधिकारों का मूल स्त्रोत मनुष्य की अपनी तर्क-बुद्धि अथवा अन्तरात्मा की प्रेरणा से की गयी मांग है। परन्तु क्या इसमें मानव द्वारा प्राप्त उन अनुभवों का कोई स्थान नहीं है जो उसे मानव होने के कारण प्राप्त होते हैं? वास्तव में मानवाधिकारों की समसामयिक संकल्पना में अनुभवमूलक तत्व अवश्य ही शामिल हैं। कोई भी मनुष्य अपने अनुभवों से ही सीखता है। मानवाधिकारों के प्रति संवेदना और जागरूकता का विशिष्ट महत्त्व है। यह एक देश-काल सापेक्ष अवधारणा है। कोई भी व्यक्ति कितना संवेदनशील और जागरूक है उसके अनुभवों पर निर्भर करता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के कड़वे अनुभवों को कौन भुला सकता है जिसके बाद विभिन्न प्रकार के मानव-सत्ता सम्बन्धित अधिकारों पर एक विशेष चिंतन प्रारम्भ हुआ और राष्ट्रवाद से आगे बढ़कर अन्तर्राष्ट्रवाद का विचार सामने आया।

उस समय प्रश्न यह था कि क्या मानव के अस्तित्व सम्बन्धी अधिकारों का सीमांकन केवल कुछ राजनीतिक सत्ता-लोलुप लोगों के हाथों में अथवा राज्य के संविधानों के भरोसे पर छोड़ देना चाहिए? अथवा क्या इसकी कोई सार्वभौमिक व्याख्या नहीं प्रस्तुत की जा सकती है? इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछ अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के संगठन अस्तित्व में आये। जिनमें संयुक्त राष्ट्र संगठन को सर्वप्रमुख माना गया है। जिसका एक व्यापक उद्देश्य था। जिसमें एक यह भी था कि व्यक्तिगत अथवा सामूहिक हितों के लिए समस्त मानव जाति को युद्ध और हिंसा जैसी विभीषिका से बचाना और मानव-अधिकारों की संरक्षा विभिन्न माध्यमों से करना। इसी संगठन से सम्बन्धित एक निकाय है 'संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद्' जो मानवाधिकारों की विस्तृत व्याख्या करती है और वैश्विक स्तर पर मानवाधिकार से सम्बन्धित समस्याओं का निरीक्षण करती है।इस संगठन के संगठन कर्ताओं का दावा है कि इस संगठन का कार्य सार्वभौमीकरण, निष्पक्षता, वस्तुनिष्ठता और सृजनात्मक अंतराष्ट्रीय संवाद के अन्तर्गत निर्देशित होगा।

समकालिक समय में मानवाधिकार के दर्शन के प्रमाणीकरण की दो प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं- प्रथम, आधारभूत अथवा परम्परागत (फॉउण्डेशनल) और द्वितीय, प्रकार्यात्मक (फंक्शनल)। परम्परागत प्रवृत्ति की मान्यता इसके मानकीय पहलू से सम्बन्धित है। परम्परागत मान्यता के अनुसार मानव अधिकार का अन्य नैतिक मानकों की तुलना में एक विशिष्ट मानकीय आधार है। परम्परागतवादियों का एक उग्र संस्करण यह दावा करता है कि मानव-रूचि, मानव-अधिकारों के आधारस्वरूप नहीं हैं। एक अन्य मध्यममार्गी अथवा उदारवादी संस्करण मानव–रुचियों को प्रतिबन्धित करता है, जो मानवाधिकारों को उस सामान्य-वर्ग के उपसमुच्चय पर आधारित करता है जैसे कि हमारी मूलभूत आवश्यकता या स्वतंत्रता में हमारी रूचि। प्रकार्यात्मक प्रवृत्ति, यह मानवाधिकारों के सारतत्व से सम्बन्धित है कि वे एक निश्चित राजनीतिक भूमिका निभाते हैं या

इस तरह की भूमिकाओं का संयोजन होते हैं, जैसे राज्यों की वैधता (प्रमाणीकरण) के आकलन के लिए केंद्र-बिन्दु की भूमिका निभाते हैं अथवा जो इनका उल्लंघन करता है उन राज्यों के विरुद्ध हस्तक्षेप करने की अनुमति देते हैं।

हालाँकि हम इन दोनों तरह की प्रवृतियों की आलोचना कर सकते हैं।[5] परम्परावादियों के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि मानकीय मूल्यों की बहुलता ही मानवाधिकारों का आधार होता है। इन मूल्यों में न केवल सभी मनुष्यों की समान नैतिक स्थिति शामिल है, बल्कि संभवतः सभी सार्वभौमिक मानव हित भी शामिल हैं। इसलिए किसी विशिष्ट महत्वपूर्ण मानकीय मानव - अधिकारों की बात करना उचित नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रकार्यात्मक के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि मानवाधिकारों का एक नैतिक स्तर होता है, नैतिक अधिकार सभी मानव सत्ताओं (ह्यूमन बींग्स) के अधीन साधारणतया उनकी मानवता के सदगुण हैं, जो कि राजनीतिक प्रकार्यों के विविधता (बहुलता) को प्रदर्शित कर सकते हैं। परन्तु इनमें से कोई भी कार्य मानवाधिकार के रूप में उनके स्वाभाव के लिए निश्चित नहीं है। मानवाधिकारों का अग्रगामी द्वितीयक विविधतावादी (बहुलतावादी) सिद्धांत यह है कि इसमें दावा किया जाता है कि दोनों समकालिक मानवाधिकारों की संस्कृति का सबसे अच्छा अर्थ अभिव्यक्त करते हैं और उस संस्कृति एवं प्राकृतिक अधिकारों की परम्परा के बीच मजबूत सातत्यता को प्रकट करते हैं।

यहाँ पर यह देखना महत्वपूर्ण रहेगा कि मानवाधिकारों से सम्बन्धित उन व्यावहारिक समस्याओं का मूल्यांकन किस तरह किया जा सकता है, जो समसामयिक सन्दर्भ से सम्बन्धित हैं। शरणार्थियों से सम्बन्धित मानवाधिकार अतिक्रमण की समस्या चिन्तकों के लिए एक महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय नैतिक समस्या है। शरणार्थियों से सम्बन्धित कुछ समस्याएं ऐसे राज्यों से सम्बन्धित है जहाँ नृजातीय संघर्ष चल रहा है या साम्प्रदायिक हिंसा का वातावरण है अथवा वह देश जहाँ सत्ता के लिए अहिंसक गृहयुद्ध जैसा वातावरण है। ऐसे वातावरण में जान-माल का खतरा हमेशा बना रहता है। जिन कारणों से वहां के लोग पलायन करने पर मजबूर हैं और कई तो जान से भी मारे जा चुके हैं। इस कारण मूल निवास से पलायन करने को मजबूर लोग किसी एक देश की सीमा से दूसरे देश की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे में उन देशों के सामने एक नैतिक समस्या उत्पन्न हो जाती है उसका एक कारण तो यही है कि अधिकतर देश अपने ही देश के नागरिकों को उचित संसाधन उपलब्ध नहीं करवा पा रहें हैं तो बाहर से आने वाले इन शरणार्थियों को सुविधा कैसे उपलब्ध करवाएं और दूसरा कारण जिस देश में ये शरणार्थी जा रहें हैं उस देश की आन्तरिक सुरक्षा की समस्या, जैसे भारत में रोहिंग्या मुस्लिमों की समस्या। इसके अतिरिक्त ऐसे लोग भी शरणार्थी बनने को मजबूर हैं जो लोग बेहतर शिक्षा, स्वास्थ्य, जैसी बुनियादी जरूरतों को पूरा करना चाहते हैं।[6] ऐसे लोग प्रवासी बनने को मजबूर हैं जिसके कारण उस देश में अवसरों की उपलब्धता में कमी आई है जैसे अमेरिका और योरोप के देशों की ओर लोगों का पलायन करना। लेकिन कारण चाहे जो है परिणाम वही है जिससे असंख्य लोगों को शरणार्थी शिविरों में अमानवीय स्थिति से गुजरना पड़ रहा है। ऐसे में प्रश्न यह है कि क्या उन शिविरों में रह रहे लोगों का कोई मानवाधिकार नहीं है। राज्य नामक संगठन और विभिन्न मानवाधिकार संगठनों की भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगना स्वाभाविक है। आखिर इन मानवाधिकार के अतिक्रमण से मुक्त करने की जिम्मेदारी कौन लेगा? कुछ सामाजिक चिंतकों का मानना है कि मानवाधिकार तभी संभव है जब एक विशेष परिस्थिति हो अर्थात शान्तिपूर्ण वातावरण हो। कुछ लोगों का यहाँ तक मानना है कि सम्बंधित राज्य की कमजोर सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संरचना इसके लिए जिम्मेदार है।

कभी-कभी प्रभुसत्ता संपन्न देशों से भी मानवाधिकार के उल्लंघन की समस्याएं सुनने में आती रहती हैं। जैसे चीन के पश्चिमी प्रान्त शिनजियांग में, चीनी प्रशासन द्वारा उइगर मुसलमानों के मुलभुत अधिकारों पर प्रतिबन्ध का आरोप अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और समाचार-पत्रों में आते रहते हैं। इन प्रतिबन्धों में असामान्य रूप से लम्बी दाढ़ी रखने, सार्वजनिक स्थानों, पर नकाब पहनने और सरकारी टीवी चैनलों को देखने से मना करना शामिल है। हालाँकि चीनी सरकार इन प्रतिबन्धों से इंकार करती है। धातव्य हो कि जिनेवा स्थिति संयुक्त राष्ट्र पैनल की एक रिपोर्ट में यह कहा गया है कि चीन ने दस लाख से ज्यादा उइगर मुसलमानों को खुफ़िया शिविरों में कैद कर रखा है। संयुक्त राष्ट्र की नस्लीय भेदभाव उन्मूलन कमिटी की सदस्य गे मैक्डूगल[7] ने यह दावा चीन की नीतियों के दो दिवसीय रिव्यु के दौरान किया है। उनके अनुसार पेइचिंग ने इस स्वायत्त क्षेत्र को एक विशाल नज़रबन्दी शिविर जैसा बना रखा है। ऐसा लगता है यहाँ सारे अधिकार निषिध हैं और सबकुछ गुप्त है। उनके अनुसार पांथिक उग्रवाद से निपटने के लिए चीन ने ऐसा किया है। ऐसा उइगर मुसलमानों के साथ इसलिए हो रहा है क्योंकि वो एक अलग सांस्कृतिक और रिलिजियस पहचान रखते हैं। क्या सांस्कृतिक विविधता में मानवाधिकारों को जारी रखा जा सकता है अथवा नहीं? आखिर मानवाधिकार के निर्धारण का मानदण्ड क्या होना चाहिए?

मानवाधिकार उल्लंघन की कुछ प्रमुख घटनाएं भारत जैसे देशों में भी देखने को मिलती हैं, जिन्हें अफवाहों पर आधारित बता दिया जाता है। मॉब-लिंचिंग जैसी घटनाएं समसामयिक समय में एक महत्वपूर्ण समस्या है। जिसमें कभी-कभी छोटे-छोटे अपराधों के शक के आधार पर व्यक्ति को भीड़ द्वारा मारा-पीटा जाता है और कभी-कभी तो पीट-पीटकर हत्या तक कर दी जाती है। यह किसी भी व्यक्ति के दैहिक स्वतन्त्रता जैसे मानवाधिकार का अतिक्रमण तो है ही साथ उस राज्य के कानूनों का खुला उल्लंघन है। ध्यातव्य हो किसी भी तरह की लिंचिंग के विविध कारण हैं, जैसे- चोरी का सन्देह, बच्चा-चोरी, गौ-तस्करी आदि को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।[8] ऐसा सन्देह गलत तथ्यों को प्रस्तुत करने के कारण है, जिसमें मीडिया, राजनेता की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि आम जन की पहुँच उन चिंतकों तक नहीं होती जो समाज की भूमिका को निर्धारित करने का कार्य करते हैं। ये वही लोग हैं जो निष्पक्षता के साथ एक एक तथ्य को प्रमाणीकरण की दृष्टि से देखते हैं और अधिकारों की समाज में भूमिका का मूल्याङ्कन करते हैं।

बहुत सी ऐसी समस्याएं हैं जहाँ पर मानवाधिकारों का अतिक्रमण हुआ है। मानव मात्र होने के कारण कई मौलिक अधिकार हमें राज्य और समाज में प्राप्त हैं। उन अधिकारों का दुरूपयोग न करते हुए एक दूसरे के वैविधतापूर्ण विचारों का सम्मान करते हुए शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व के भावना से अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते रहना होगा। अनुभव यही कहता है कि जहाँ कहीं भी इस तरह से मानवाधिकारों के अतिक्रमण की बात आयी है वहां किसी व्यक्ति विशेष अथवा समूह की अज्ञानता, अतिमहत्वाकांक्षा, अतिसंवेदनहीनता, तथा अकर्मण्यता ही जिम्मेदार रही है। ऐसे में ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया जाता है अथवा हो जाता है जहाँ लोगों में अविश्वास, विद्वेष आदि आसानी से भरा जा सकता है। हमें एक ऐसा अनुकूल वातावरण तैयार करना होगा जो एक ऐसी व्यवस्था[9] का निर्माण करे जहाँ विविधता को समायोजित किया जा सके। साथ-साथ लोगों में स्वमेव एक गरिमामय शांतिपूर्ण जीवन जीने की चाह हो। लोगों के रहने-खाने, शिक्षा आदि विभिन्न महत्वपूर्ण जरूरतों को समबन्धित क्षेत्र की जरूरतों के अनुसार इस तरह ढालना होगा

ताकि लोग अपने मूलभूत कर्त्तव्यों को समझ सकें और एक मानव होने के नाते मनुष्यता का मर्म समझ सकें। किसी भी राज्य,समाज, अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन के लिए यह तभी संभव है, जब उसमें कार्य करने वाले लोग भी नैतिक इच्छाशक्ति से परिपूर्ण हों। हमारी पद्धति ऐसी होनी चाहिए ताकि हम तीनों स्तर ज्ञान, भावना, और कर्त्तव्य से समान रूप से शिक्षित हों। तभी अज्ञानता, संवेदनहीनत और अकर्मण्यता से समाज को बचाया जा सकता है, जिससे समाज में मानवाधिकारों के अतिक्रमण को रोका जा सके।[10]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. See, Peter C. Meyers, From Natural Rights to Human Rights - And Beyond, The Heritage Foundation, Massachusetts Avenue, 2017, pp.7.
2. See, O.P.Gauba, An Introduction to Political Thought, Mayur Paper Backs, Noida, 2011, pp. 102.
3. देखें, सतीश चतुर्वेदी, मानवाधिकार और संयुक्त राष्ट्र संघ, पॉइंटर पब्लिशर्स, जयपुर, 2002, pp. 65.
4. See, Durga Das Basu, Introduction to the Constitution of India, LexisNexis Butterworthes Wadhva Nagpur, 8th Edition(hindi),2002 pp. 79-142.
5. See John Tasiouslas, Towards A Philosophy of Human Rights, Current Legal Problems, Vol. 65, Oxford University Press, 2012, pp.1-4.
6. See Parth S. Ghosha, Migrants, Refugees and the Stateless in South Asia, Sage Publishing.com, New Delhi, 2018.
7. See News Report By Nick Cumming-Bruce, U.N. Panel Confronts China Over Reports That It Holds a Million Uighurs in Campus, The New York Times, Geneva, 10 August, 2018.
8. See News Report By, Deeptiman Tiwari, NCRB Leaves Out Data on Lynching, Khap and Religious Killings, The Indian Express, New Delhi Edition, 22 October, 2019.
9. See Varun Gauri and Siri Gloppen, Human Rights Based Approaches to Development, Policy Research Working Paper, January, 2012.
10. See Upendra Bakshee, The Future of Human Rights, Oxford University Press, New Delhi,2002.

व्यक्तित्व और ईश्वर

पूनम त्रिपाठी
शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सार संक्षेप

ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने वाले धर्म दार्शनिकों का ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। कुछ विचारक ईश्वर को निर्गुण, निराकार, निर्विशेष मानते हैं जबकि कुछ अन्य दार्शनिक ईश्वर को सगुण, व्यक्तित्वपूर्ण और सविशेष मानते हैं। ऐसे विचारक ईश्वर को सृष्टिकर्ता, पालनकर्त्ता, संहारकर्ता एवं शुभ मानते हैं जो सर्वगुण सम्पन्न है। उनकी धारणा है कि व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर ही भक्तों और साधकों की उपासना का विषय हो सकता है, जो भक्त की प्रार्थना सुनकर अपनी कृपा या अनुग्रह प्रदान करता है।

कुंजी शब्दः निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, सगुण, व्यक्तित्वपूर्ण, सविशेष

शोध पत्रः

धर्म-दर्शन में व्यक्तित्व और ईश्वर के सम्बन्ध को लेकर हम अत्यधिक वाद-विवाद पाते हैं। दूसरे शब्दों में क्या ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है? यह धर्मदर्शन में विवादग्रस्त प्रश्न बन चुका है। इसके पूर्व की हम क्या ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है नामक प्रश्न का उत्तर जानने का प्रयास करे यह जानना आपेक्षित हो जाता है कि व्यक्तित्व का क्या अर्थ है।

साधारणतः व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के विशिष्ट गुणों से लिया जाता है। कभी-कभी व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के बाह्य रूपों से भी समझा जाता हैः व्यक्तित्व मनोविज्ञान का मुख्य प्रत्यय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के मानसिक और शारीरिक गुणों का संगठन समझा जाता है। यहां मन का तात्पर्य चेतना से है जबकि शरीर का तात्पर्य भौतिक शरीर से है। ईश्वर इस अर्थ में व्यक्तित्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ईश्वर में मन और शरीर का समन्वय नहीं हुआ है।

अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर के व्यक्तित्व का क्या अर्थ है? ईश्वर आत्म-चेतन सत्ता है। आत्म-चेतना का रहना व्यक्तित्व का सूचक है। मनुष्य में चेतना आवश्यक रूप से समाविष्ट है। इसलिये मनुष्य को भी व्यक्तित्वपूर्ण कहा जाता है। चूंकि ईश्वर आत्म-चेतन है इसलिये वह व्यक्तित्वपूर्ण है। आत्म-चेतना व्यक्तित्व का मूल लक्षण है। मैक्टैगार्ट (Mataggart) ने भी व्यक्तित्व और आत्म-चेतना को आवश्यक रूप से सम्बन्धित बतलाया है। उन्होंने अपनी पुस्तक "Some Dogmas of Religion'' में व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब हम ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं तब हमारा मतलब है कि वह आत्म-चेतन है तथा उसे अपने अस्तित्व का उसी प्रकार ज्ञान है, जिस प्रकार हमें अपने अस्तित्व का ज्ञान है।[1]

इसी प्रकार डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड भी अपनी पुस्तक "Philosophy of Religion'' में लिखते हैं कि ''पूर्णतः व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के विचार का अर्थ है कि ईश्वर चेतना एवं आत्म-चेतना का केन्द्र है।''[2]

यद्यपि आत्म-चेतना ईश्वरीय व्यक्तित्व का मूल लक्षण है, परंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि आत्म-चेतना ही व्यक्तित्व का सर्वस्व है, भ्रामक होगा। आत्म-चेतना के अतिरिक्त ईश्वर में संकल्प-स्वातन्त्र्य (freedom of will) का रहना अनिवार्य है। ईश्वर अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है। वह स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय कर सकता है। इसी विशेषता के कारण ईश्वर ने संसार

के समस्त विषयों का निर्माण किया है। ईश्वर में संकल्प की स्वतंत्रता है, क्योंकि ईश्वर किसी बाह्य शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं होता है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अनियंत्रित है। यहाँ अनियंत्रित का तात्पर्य मनमौजीपन (Capriciousness) से है। वास्तव में ईश्वर नियंत्रित (Determinism) एवं अनियंत्रित (Indeterminism) इन दोनों ही अवस्थाओं से भिन्न आत्म-नियंत्रित (Self determinism) हैं।[3] आत्म-नियंत्रण भी एक प्रकार का नियंत्रण ही है, परंतु यह नियंत्रण बाह्य न होकर आंतरिक है जहाँ व्यक्ति अपनी आत्मा के द्वारा मर्यादित एवं नियंत्रित होता है यथा- ए. सी. नुडसन अपनी पुस्तक "The Doctrine of God" में लिखते हैं कि ''ईश्वर के स्वरूप में आत्म-निर्धारित सीमाओं के अतिरिक्त अन्य सीमायें नहीं हो सकती।'' इसी दृष्टि से हर्मन लाट्ज़े लिखते हैं कि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है, क्योंकि वह आत्म-चेतना एवं संकल्प की स्वतंत्रता इन दोनों से युक्त है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों प्रवृत्ति तो मनुष्य में भी होती है, परन्तु विभेद यह है कि मनुष्य के अपूर्ण एवं सीमित होने के कारण उसकी स्वतंत्रता बाह्य नियंत्रित होती है, जबकि ईश्वर पूर्ण एवं असीमित होने के कारण आत्म-नियंत्रित होता है। ''केवल असीमित सत्ता की अवधारणा के साथ ही पूर्ण व्यक्तित्व का सामंजस्य सम्भव है, सीमित सत्ताओ के लिये यह केवल एक सम्भावना मात्र है।''[4]

अंततः कुछ दार्शनिकों ने व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के अंतर्गत 'आत्म-चेतना' एवं 'संकल्प की स्वतंत्रता' के साथ-साथ 'जैव संगठन' को भी स्वीकार किया है। यथा- ए. एन. व्हाइटहेड अपनी पुस्तक "Process and Reality" में ईश्वर की परिकल्पना जीवित शरीर के रूप में करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर में व्यक्तित्व की अपेक्षा एक प्रकार का जैव-संगठन है। अतः वे ईश्वर के लिये द्विध्रुवीय शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार ''सर्वाधिक पूर्ण मूर्त्त सत्ता द्विध्रुवीय है, भौतिक एवं मानसिक।''[5] व्हाइटहेड भौतिक ध्रुव को 'परिणामी प्रकृति' तथा मानसिक ध्रुव को 'आदि प्रकृति' कहते हैं। ये दोनों अलग-अलग होते हुये भी एक-दूसरे से अवियोज्य है। ''अतः सभी यथार्थ सत्राओं के सदृश, ईश्वर का स्वरूप द्विध्रुवीय है।'' वह है आदि प्रकृति और परिणामी प्रकृति।[6] इन दोनों में विभेद यह है कि कि आदि प्रकृति स्वतंत्र, पूर्ण, शाश्वत, अचेतन है तथा परिणामी प्रकृति कालिक जगत के द्वारा व्युत्पन्न भौतिक अनुभवों से उत्पन्न होती है, तत्पश्चात् वह आदि पक्ष के साथ अखण्डता को प्राप्त करती है। यह नियंत्रित, अपूर्ण, सार्वकालिक एवं चेतन है।

इसी प्रकार पॉल तिलिक भी ईश्वर को 'पुराकथा' (Myth) कहते हैं। 'मिथ' शब्द ग्रीक के 'Mythos' से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है, 'देवताओं की कहानियाँ'। ''मिथ आस्था का प्रतीक है जो देव-मानव मिलन की कहानियों का सम्मिलन है''।[7] यदि मिथ को शाब्दिक अर्थ में लिया जाये तो ईश्वर परम सत्ता से निम्नतर हो जाता है, वह महान ईश्वरीय आदेश के द्वारा निर्दिष्ट असीमित एवं निरपेक्ष ईश्वर नहीं रह जाता है। पुनश्च तिलिक ईश्वर को व्यक्तित्वयुक्त मानते हुये भी उसे व्यक्ति नहीं कहते। यद्यपि ईश्वर व्यक्तित्व का आधार है, तथापि उसे व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह परम सत्रा न्यूनतर तो है, तथापि मनुष्य की भाँति सीमित नहीं है।

भारतीय परम्परा में प्रायः सभी वैष्णव वेदान्तियों, ने ईश्वर को सगुण, साकार, व्यक्तित्वपूर्ण रूप में स्वीकारा है। रामानुज कहते हैं कि ईश्वर भी हमारी तरह ही व्यक्तित्वपूर्ण है, परन्तु हमारा व्यक्तित्व भौतिक तत्वों से निर्मित होने के कारण सीमित है जबकि ईश्वर का व्यक्तित्व शुद्ध सत्व एवं अप्राकृतिक तत्वों से निर्मित होने के कारण असीमित है। इस प्रकार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण होते हुये भी बन्धन का कारण नहीं बनता है। बन्धन का कारण व्यक्तित्व नहीं बल्कि कर्म है और कर्म

केवल प्राकृतिक देह ही करता है। इसी प्रकार द्वैतवादी मध्वाचार्य अपनी पुस्तक ''मध्वसिद्धान्तसार'' में भी ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं। कभी-कभी तो वे ईश्वर को पंच भौतिक तत्वों से भी निर्मित बताते हैं, जिसे वे स्वेच्छा-स्वीकृत शरीर कहते हैं। हालाँकि, यह शरीर ईश्वर की संकल्प-शक्ति से निर्मित होता है। अतः ईश्वर पंच भौतिक तत्वों से युक्त होते हुये भी सीमित नहीं होता है।

ईश्वर में कुछ निजी विशेषतायें होती है, उन्हें वैयक्तिक विशिष्टता कहते हैं। इसके कारण ही प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न हो जाता है। यही वैयक्तिक विशिष्टता ईश्वर में भी पायी जाती है जिसके कारण वह मानव तथा पशु से भिन्न है। इस प्रकार ईश्वर के व्यक्तित्व का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि ईश्वर के व्यक्तित्व का अर्थ, व्यक्तित्व के साधारण अर्थ से भिन्न है। साधारण अर्थ में व्यक्तित्व का आरोपण उस व्यक्ति पर किया जाता है जो काल और दिक् की सीमा में निहित हो। परन्तु, ईश्वर काल और दिक् की सीमा से बाहर है। क्योंकि उसका व्यक्तित्व भौतिक तत्वों से निर्मित नहीं है बल्कि संकल्पजनित होने के कारण शुद्ध एवं अप्राकृतिक तत्वों से निर्मित है। इसी दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है कि,

''पगु बिनु चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी।''

स्पष्ट है कि यदि ईश्वर का व्यक्तित्व भौतिक तत्वों से निर्मित होता तो यह कैसे कैसे कहा जा सकता था कि बिना पैर के चलता है, बिना कान के सुनता है आदि-आदि।

ईश्वरीय व्यक्तित्व के सम्बन्ध की व्याख्या हो जाने के बाद स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि ईश्वरीय व्यक्तित्व और मानवीय व्यक्तित्व में क्या सम्बन्ध है? क्या ये दोनों पूर्णतः विरोधी है?

मानवीय व्यक्तित्व में आत्म-चेतना तथा आत्म नियंत्रण का रहना आवश्यक है, जिस प्रकार ईश्वर के व्यक्तित्व में आत्म-चेतना का होना आवश्यक है, उसी प्रकार मानवीय व्यक्तित्व में आत्म चेतना का होना आवश्यक है। मानवीय व्यक्तित्व का दूसरा गुण संकल्प है। जिस प्रकार इच्छा ईश्वरीय व्यक्तित्व का प्रधानगुण है उसी प्रकार वह मानवीय व्यक्तित्व का प्रधान गुण है। इस प्रकार इनमें समानता परिलक्षित होती है।

परंतु ईश्वरीय व्यक्तित्व और मानवीय व्यक्तित्व के बीच महत्वपूर्ण वैषम्य भी है- ईश्वर एक स्रष्टा है। उसी ने विश्व की सृष्टि की है। मानव सृष्टि का महत्वपूर्ण जीव है। ईश्वर ने विश्व के शुभ, अशुभ विषयों का निर्माण किया है। परन्तु मानव को विश्व का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता है। वह तो स्वतः एक ईश्वरीय सृष्टि है।

ईश्वर शाश्वत है। उसका न आदि है और न अंत। ईश्वर की उत्पत्ति किसी विशेष समय में नहीं होती है। परन्तु दूसरी ओर मानव अशाश्वत है। उसका आर्विभाव विशेष समय में हुआ है। ईश्वर एक पूर्ण जीव है। उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है। इसके विपरीत मानव में अनेक अपूर्णतायें पायी जाती हैं। वह अपनी समस्याओं का समाधान करने के लिये बुद्धि और कल्पना का सहारा लेता है, तथा उनका पूर्णतः समाधान करने में कठिनाई महसूस करता है।

ईश्वर का कोई भौतिक शरीर नहीं है जैसा कि मानव में पाया जाता है। इस प्रसंग में प्रो. ब्राइटमैन की निम्नांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय है- ''यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है और सम्पूर्ण विश्व को नियंत्रित करता है तो यह सोचना बचकाना होगा कि ईश्वर शरीर युक्त है, युवा या वृद्ध है।''

यद्यपि ईश्वर और मनुष्य दोनों में चेतना पायी जाती है फिर भी दोनों में अंतर है। ईश्वर की चेतना पूर्ण है जबकि मानवीय चेतना आंशिक और अपूर्ण है।

इसके उपरांत, ईश्वर के व्यक्तित्व के प्रश्न को लेकर विद्वानों में दो वर्ग हो गया। प्रथम वर्ग के दार्शनिकों ने ईश्वर के व्यक्तित्व का खण्डन किया है। इस वर्ग के समर्थकों के अनुसार, ईश्वर पर व्यक्तित्व का आरोपण अमान्य जँचता है। इनके तर्कों की व्याख्या निम्नवत् है- ईश्वर पर व्यक्तित्व का आरोपण इसलिये करना अनुचित बताया गया है कि यह ईश्वर पर मानवीयकरण (Anthropomorphism) का आरोपण करता है। मनुष्य व्यक्तित्वपूर्ण होता है, ईश्वर नहीं। व्यक्तित्व का आरोपन ईश्वर पर करना ईश्वर को मानव-तुल्य बनाना है।

जिस प्रकार मानव में गुण एवं दोष दोनों ही होते हैं उसी प्रकार ईश्वर में भी गुण एवं दोष दोनों ही मानने पडेंगे़, जो धार्मिक भावना के कदापि अनुरूप नहीं है। धर्म में तो ईश्वर को केवल सद्‌गुणों से युक्त माना जाता है। वस्तुतः व्यक्तित्व आत्म एवं अनात्म के विभेद पर आधारित है, जबकि ईश्वर सभी प्रकार के विभेदों से परे है। अस्तु, ईश्वर पर व्यक्तित्व का आरोपण करना अनुचित है। ध्यातव्य है कि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण होते हुये भी मानवीय दुर्गुणों से रहित है। आत्म-अनात्म का विभेद तो सीमित सत्ताओं पर आरोपित होता है, परन्तु ईश्वर तो असीमित है, अतः वह इस भेद से परे होते हुये भी व्यक्तित्वपूर्ण हो सकता है और उसमें किसी प्रकार का आत्म-विरोध नहीं है। आत्म-विरोध तो तब होगा जब उसमें से व्यक्तित्व को निकाल दिया जाये, क्योंकि ऐसी स्थिति में ईश्वर अपूर्ण हो जायेगा और अपूर्ण ईश्वर की अवधारणा निश्चित रूप से आत्म-विरोधी है। अतः ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानकर उस पर मानवीयकरण का आरोपण करना असंगत है।

यदि थोडे ़समय के लिये ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना जाये तो हमें यह मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि वह अशुभ तत्वों से प्रभावित होता है, जिस प्रकार मानव व्यक्तित्वपूर्ण होने के कारण सांसारिक अशुभों से प्रभावित होता है। इस प्रकार मानवीय व्यक्तित्व और ईश्वरीय व्यक्तित्व में अभेद है। परन्तु यह विचार असंगत है, क्योंकि ये दोनों पूर्णतः विरोधी है।

कुछ आलोचकों ने ईश्वर के व्यक्तित्व का इसलिये खण्डन किया क्योंकि वह प्रत्यक्ष की सीमा से बाहर है। साधारणतः जिन विषयों को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं उन सबका हमें प्रत्यक्षीकरण होता है। यह आलोचना भी अमान्य है, क्योंकि इसे युक्तिसंगत तभी माना जा सकता है जब ज्ञान का एकमात्र साधन प्रत्यक्ष हो। परंतु हम पाते हैं कि बुद्धि, अनुमान, उपमान, शब्द आदि भी ज्ञान का साधन है।

इसी दृष्टि से आई.एम. क्रौम्बी लिखते हैं कि ''हमें तुरन्त ही यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि सामान्य अर्थों में हमारे मन में दैवीय स्वरूप की कोरी संकल्पना नहीं है। हम ईश्वर को नहीं जानते हैं, और यह दावा करना बेतुका होगा कि हम यह जानते हैं कि वह किस प्रकार की सत्ता है। जब हम उनके विषय में 'सर्वज्ञ', 'शाश्वत' आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं तो ये हमें यह स्वीकार करने में समर्थ नहीं बनाते हैं कि ईश्वर कैसा है।''[८]

इसी प्रकार जॉनहिक लिखते हैं कि ''ईसाई धर्मशास्त्र में ईश्वर का वर्णन विविध निरपेक्ष गुणों, यथा- सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, पूर्ण शुभत्व, असीमित प्रेम आदि के रूपों में किया गया है जिसे हम ठीक-ठीक उसी रूप में नहीं जान सकते हैं। .... स्वयं ईश्वर ही अपने परिमित स्वरूप को जानता है।''[९]

कुछ आलोचकों ने ईश्वरीय व्यक्तित्व को धर्म का मूल आधार नहीं बताया है, इसका कारण बतलाते हुये कहा जाता है की ईश्वरीय व्यक्तित्व के बिना भी धर्म का विकास हुआ है। जैन धर्म, बौद्धधर्म इस कथन की पुष्टि के सबल प्रमाण हैं। अतः ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानना भ्रान्तिमूलक

है। डॉ. रैशडॉल (Rash dall) ने ईश्वर के व्यक्तित्व के विरुद्ध सबल आपेक्ष उपस्थित किया है। ईश्वर के साथ व्यक्तित्व की कल्पना करना अमान्य है। ईश्वर की भावना में असीमता की भावना भी अन्तर्भूत है। व्यक्तित्व की कल्पना में ससीमता का विचार निहित है। व्यक्तित्व असीमता का विरोधी है। अतः व्यक्तित्व और असीम ईश्वर का विचार पूर्णतः विरोधी है।

प्रथम वर्ग के विचारकों के उपरान्त दूसरे वर्ग के विचारकों का कहना है कि ईश्वर आवश्यक रूप से व्यक्तित्वपूर्ण है।

धर्म का केन्द्रबिन्दु ईश्वर है। यही कारण है कि ईश्वर की चर्चा हम धर्म में पाते हैं। धर्म के लिये एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का होना आवश्यक है। धर्म का स्वरूप धार्मिक तत्वों पर आधारित है। धार्मिक तत्वों जैसे ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक पहलुओं का आधार एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर ही हो सकता है।

धार्मिक सम्बन्ध उपासक और उपास्य का सम्बन्ध है। ईश्वर उपास्य है जबकि मानव उपासक है। उपास्य में उपासक के प्रति करुणा, क्षमा, प्रेम होता है तथा उपासक में उपास्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति होती है। धार्मिक सम्बन्ध को बनाये रखने के लिये एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक सम्बन्ध के लिये व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का रहना आवश्यक है।

धर्म में उपासक ईश्वर की आराधना करता है तथा ईश्वर पर निर्भरता की भावना रखता है। वह आशा करता है कि ईश्वर हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार करेगा तथा हमारी रक्षा करेगा। परंतु उपासक की इन आशाओं की पूर्ति तभी सम्भव है, जब ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण हो। व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर ही मानवीय भावनाओं को जान सकता है तथा उसकी पूर्ति कर सकता है। अतः ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानना अपेक्षित है।

व्यक्तित्वहीन ईश्वर धार्मिक चेतना के लिये अनुपयुक्त है। व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के अभाव में धर्म पनप नहीं सकता। धर्म में ऐसी सत्ता का रहना आवश्यक है कि जिस पर मनुष्य निर्भरता, श्रद्धा और आत्म समर्पण की भावना रखें। इन सब भावनाओं का आरोपन एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर पर ही सम्भव है। ईश्वर मात्र कहने से धार्मिक अनुभूति नहीं जगती बल्कि इसके लिये यह जानना आवश्यक है कि ईश्वर क्या है अर्थात् उसका व्यक्तित्व है या नहीं। याकूब मसीह के अनुसार, ''यदि उपास्य ईश्वर ऐसा हो कि वह भक्तों की आवाज सुन सके, उनके स्तर पर आकर जीवन की कठिन समस्याओं में उनका मार्गदर्शन कर सके अथवा उनका मार्ग प्रशस्त कर सकें तो ऐसे ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की संज्ञा दी जायेगी।''[10]

प्रो. गैलवे ने ईश्वर के व्यक्तित्व पर जोर देते हुये कहा है कि ''यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण नहीं है तो मनुष्य के सम्पूर्ण धार्मिक चेतना के विकास को भ्रमात्मक मानना होगा।''[11] दूसरे स्थल पर उन्होंने कहा है कि धार्मिक अनुभूति की सत्यता तभी है जब हम एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करते हैं जो व्यक्तित्वपूर्ण हैं।[12]

प्रो. ब्राइटमैन ने भी धर्म के लिये एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की अपेक्षा महसूस करते हुये कहा है कि धर्म विशेष रूप से मानवीय अनुभूति है।[13]

मानव ईश्वर पर गुणों का आरोपन करता है। ऐसे गुणों में शाश्वतता, पूर्णता, असीमितता, क्षमाशीलता आदि है। इन गुणों की धारणा ही ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण बना देती है। इन गुणों का आरोपन हम ईश्वर पर करते हैं। इनका आरोपन ईश्वर पर तभी ही सम्भव है जबकि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। अतः इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर एक व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता है।

प्रत्येक व्यक्ति में नैतिक चेतना पायी जाती है। व्यक्ति निरन्तर नैतिक दृष्टि से उचित कर्म करना चाहता है। इसके लिए एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में विश्वास होना आवश्यक है। अतः ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानना अनिवार्य है।

यद्यपि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है फिर भी जगत में दुःख है, परंतु इसमें भी कोई विरोधाभास नहीं है, क्योंकि हमारी सीमित बुद्धि उस दुःख को पूर्णतया समझने में असमर्थ है। पुनश्च, अशुभ के लिये ईश्वर उत्तरदायी न होकर मनुष्य स्वयं ही उत्तरदायी है। इसी दृष्टि से आचार्य शंकर, ''शारीरक भाष्य'' में लिखते हैं कि ''वैषम्यनैघृण्ये न सापेक्षत्वात्तया हि दर्शयति''(2/1/34)[14] अर्थात् ईश्वर पर विषमता एवं क्रूरता का आक्षेप नहीं हो सकता है, क्योंकि ईश्वर सृष्टि का निरपेक्ष कारण न होकर सापेक्ष कारण है। इसी प्रकार इस सृष्टि में ईश्वर तो साधारण कारण है जबकि जीवगत कर्म ही असाधारण कारण है। इस प्रकार ईश्वर सापेक्ष कारण होने से उस पर अशुभ का आक्षेप नहीं किया जा सकता।

इस श्रेणी में आने वाले धर्म-दार्शनिकों का मानना है कि निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और व्यक्तित्व विहीन ईश्वर के प्रति भक्त आत्मीयता का अनुभव नहीं कर पाता तथा उसके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर पाता है। ऐसा ईश्वर इसीलिए भक्तों के लिए आराध्य नहीं हो सकता। ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता उसे ब्रह्म या निरपेक्ष परमतत्व से अलग करती है। इस सम्बन्ध में हम ट्रूबल्ड का मत उद्धृत कर सकते हैं 'हमारा लक्ष्य ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को सुनिश्चित करना है जिनके समक्ष हम अपने पापों को स्वीकार कर सकें। ऐसा ईश्वर जो प्रेम करता है और जो हमारी जिज्ञासा तथा खोज से ऊपर नहीं है, जो परमतत्व न होकर पिता है। पूर्णतः व्यक्तित्वसम्पन्न ईश्वर के विचार का अर्थ यह है कि ईश्वर चेतना तथा आत्मचेतना का केन्द्र है और इसी कारण वह केवल शक्ति तथा नियम के शासन से पूर्णतया भिन्न है, यद्यपि ईश्वर निश्चय ही शक्ति एवं प्राकृतिक नियम दोनों का स्रोत है। ईश्वर कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसके विषय में केवल बात ही की जा सके, वह ऐसी सत्ता है जिसके साथ बात की जा सकती है और जिसकी बात सुनी जा सकती है।[15] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि ट्रूबल्ड व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के साथ ही भक्त की भावनाओं की संतुष्टि सम्भव मानते हैं। ऐसा ईश्वर भक्त के लिए पिता, मार्गदर्शक तथा सहायक होता है।

यद्यपि ईश्वर के व्यक्तित्व के विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तावित किये गये है, फिर भी ईश्वर के व्यक्तित्व का निषेध नहीं होता है। इसका कारण यह है कि ईश्वर के व्यक्तित्व को न हम तर्क से प्रमाणित कर सकते हैं और न हम अप्रमाणित कर सकते हैं। ईश्वर के व्यक्तित्व का आधार विश्वास है। ईश्वर एक रचयिता है। उसकी रचनाओं को देखकर उसके व्यक्तित्व का हमें बोध होता है। यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण नहीं होता तब वह विश्व की वस्तुओं की रचना इस प्रकार नहीं करता। विश्व के विभिन्न वस्तुओं के बीच सामंजस्य एवं व्यवस्था है। सभी वस्तुयें किसी नियम से शासित है। चूंकि ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि की है, इसलिये सामंजस्य और व्यवस्था ईश्वर की ही देन है। विश्व के सामंजस्य एवं व्यवस्था का आधार व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर ही हो सकता है। अतः सांसारिक व्यवस्था को देख कर ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानना अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के व्यक्तित्व की पुष्टि धार्मिक चेतना के द्वारा होती है। धार्मिक अनुभूतियाँ हमें व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर को मानने के लिये बाध्य करती है। यदि हमारा मुख्य दृष्टिकोण मूल्यात्मक है तो हम ईश्वर को व्यक्तित्वयुक्त मानना चाहेंगे। स्पष्ट है कि भावना प्रधान व्यक्ति ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानेगा। इसी प्रकार तर्क प्रधान और ज्ञानी व्यक्ति भी ईश्वर को व्यक्तित्व रहित मानेगा।

पूर्ण एवं निरपेक्ष ईश्वर में व्यक्तित्व का आरोपण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रुचि, प्रवृत्ति एवं परम्परा के अनुसार व्यक्ति ईश्वर की भिन्न-भिन्न रूपों में कल्पना करते हैं। अतः ईश्वर के व्यक्तित्व का खण्डन करना अनुचित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. McTaggart, J.M.E. (1969) : Some Dogmas of Religion, Kraus, Reprint Co., New York, p. 189
2. Trueblood, D.A. (1957) : Philosophy of Religion, Harper & Brothers, New York, p. 267
3. Lotze, Herman (1885) : Outlines of the Philosophy of Religion, Ginn, Heath & Co., Boston, p. 69
4. पाण्डेय, ऋषिकांत (2016): धर्म-दर्शन, पियर्सन पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 97
5. Whitehead, A.N. (1926) : Religion in the Making, Macmillan, New York, p. 114
6. Whitehead, A.N. (1978) : Process and Reality, The Free Press, New York, p. 345
7. Tillich, Paul (1957) : Dynamics of Faith, Harper & Row, New York, p. 49
8. Crombie, I.M. (1968) : The Possibility of Theology Statements, In Mitchell, Basil : Faith and Logic (Ed.), George Allen & Unwin Ltd. London, p. 55
9. Hick, John (1971) : "Theology and Verification" In Basil Mitchell, "Philosophy of Religion", Oxford University Press, Oxford, p. 68-69
10. मसीह, याकूब (1992): सामान्य धर्मदर्शन एवं दार्शनिक विश्लेषण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 240
11. Galloway, George (1960) : The Philosophy of Religion, T. & T. Clark, Edinburgh, p. 495 [Ibid, p. 504]
12. Ibid., P. 504
13. Religion is characteristically human experience. Brightman. A Philosophy of Religion. (p. 130)
14. शारीरिक भाष्य; (2/1/34)
15. True Blood, D.A. (1957) : Philosophy of Religion, Harper & Brothers, New York, p. 267

महात्मा गाँधी का अनासक्तियोग और गीता

डॉ. अजय कुमार

तर्कशास्त्र, राजकीय इण्टर कालेज, सुरवादलापुर, माण्डा, प्रयागराज

गाँधी जी के समस्त दार्शनिक विचारों पर गीता के उपदेशों में वार्णित शिक्षा की अमिट छाप दिखायी देती है। गाँधी के अनुसार गीता आत्म-साक्षात्कार का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। गाँधीजी के अनुसार गीता एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है जिसमें अनासक्तियोग एवं निष्काम कर्म की शिक्षा गीता के समस्त उपदेशों का केन्द्रीय मान है।

गाँधी जी ने अनासक्तियोग की प्रस्तावना में कहा है कि- गीता हमारे लिए तत्वज्ञान का सर्वोत्तम आध्यत्मिक ग्रन्थ है। गीता में धर्म केवल मोक्ष का साधन नहीं है बल्कि गीता व्यवहार में धर्म के उपयोग की शिक्षा देती है। गाँधी जी के अनुसार- जो धर्म व्यवहार मे न लाया जा सके वास्तव में, वह धर्म नहीं है। गाँधी जी के समस्त दार्शनिक विचारों का केन्द्रिय भाव सत्य और अहिंसा है। गाँधी जी मानते है कि गीता की शिक्षा को व्यवहार में पालन करने से सत्य और अहिंसा का पालन सहजभाव से हो जाता है। अनासक्ति के बिना अहिंसा संभव नही है। अनासक्ति में आहिंसा स्वयं ही सहजभाव से आ जाती है। प्रो.आ.डी. रानाडे के अनुसार महात्मा गाँधी द्वारा गीता की प्रमुख नैतिक शिक्षा के रूप में अनासक्तियोग का प्रतिपादन किया गया है।[1] गाँधी जी के अनुसार अहिंसा और अनासक्तियोग गीता की प्रमुख नैतिक शिक्षा है। गाँधी जी के अनुसार हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है क्यों कि कभी-कभी हिंसा न करना एक मजदूरी होती है। इन्द्रिय संयम और अनासक्ति के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन उसके वास्तविक अर्थ में असंभव है। वास्तविक अर्थ में अहिंसा-धर्म का पालन प्रेम, धैर्य, क्षमा और करूणा पर आधारित है क्याकि इन भावों में अहिंसा का भाव सहज रूप से सम्मिलित रहता है। अनासक्ति के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन संभव नहीं है।

महात्मा गाँधी जी सत्य और अहिंसा के मूल आधार के रूप में अनासक्तियोग की मान्यता को स्वीकार करते है। उनकी मान्यता है कि यदि मनुष्य की कर्मो में फलासक्ति न हो तो न तो कोई मनुष्य असत्य या झूठ बोलेगा और न ही कोई मुनुष्य किसी भी प्रकार की हिंसा करेगा। अर्थात् गाँधी जी फलासक्ति को असत्य आचरण और हिंसात्मक कर्म का मूल कारण स्वीकार करते है। गीता का अनासक्ति सिद्धान्त 'अहिंसा परमो धर्मः' का प्रतिपादन करता है। गीता में वार्णित अनासक्त भाव वस्तुतः निरन्तर यान्त्रिक रूप से कर्तव्य का पालन है। लोकसंग्रह की दृष्टि से भी निरन्तर कर्म करना आवश्यक है। निरन्तर कर्म किये बिना मनुष्य को कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है।[2] गीता के अनुसार-कर्म प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होते है और प्रकृति अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होती है। अतः सर्वव्यापक ब्रह्म सदैव विद्यमान रहता है।[3] इस प्रकार गीता में जीवन और सृष्टि में अकर्मण्यता के लिए कोई स्थान नहीं है। गीता फलासक्ति का निषेध करते हुए लोकल्याण और आत्मसिद्धि हेतु कर्त्तव्य कर्म का विधान करती है। अतः गीता में प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग इन दो अतियों के मध्य समन्वय का कार्य किया गया है। गीता एक तरफ प्रकृत्तिमार्ग के कर्मवाद को अपनाते हुए उसकी फलासक्ति से बचने का मार्ग दिखाती है तो दूसरी तरफ निवृत्तिमार्ग की अकर्मण्यता से बचते हुए फलासक्ति के त्याग को अपनाने का मार्ग दिखाती है। यह कर्म में अकर्म की आवस्था है। वास्तव में गीता में कर्मवाद और अकर्मवाद, भोगवाद और संशयवाद तथा आत्म-

लाभ और लोकसंग्रह के मध्य अद्भुत समन्वय किया गया है।

गीता के अनुसार मन को कर्मो के सकुशल संपादन पर केन्द्रित करने से, साथ ही मन को फलासक्ति से हटाने से ही कर्मकौशल आ सकता है। इस प्रकार अकर्मवाद की अकर्मण्यता को दूर करने से तथा कर्मवाद की फलाकांक्षा को दूर करने से ही निष्काम कर्म संभव है। गीता में निष्काम कर्म की यह भावना गीता के इस श्लोक में प्रतिष्ठित है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोहस्त्वकर्मणि।।[5]

मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में ही है, उसका फल उसके वश में नहीं है। इसलिए जो कर्मफल मनुष्य के अधिकार में नहीं है उसके लिए दुःखी होना, पश्चाताप करना या चिन्ता करना उचित नहीं है। ईश्वरार्पण भाव से किया गया कर्म ही सच्चा कर्म है। इसके अन्तर्गत आत्म-लाभ और लोककल्याण की भावना से किये गये कर्म यान्त्रिक रूप से सम्पन्न किये जाते हैं। ऐसे कर्म मनुष्य के लिए हुए कर्मों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अत्याधिक प्रयत्न के बावजूद मानव-मन और बुद्धि बार-बार फलासक्ति, लाभ-हानि आदि के द्वन्द्वो में उलझकर रह जाती है। मानव बुद्धि का यह संशय सिर्फ और सिर्फ ईश्वरार्पण भाव से कर्म करने एवं ईश्वर में श्रद्धा रखने से ही दूर हो सकता है। ईश्वर की शरण में जाने से ईश्वर भक्त के मन से समस्त संशय, भय एवं भ्रम को दूर कर देता है। ईश्वरापर्ण की अवस्था में भक्त स्वयं को ईश्वरइच्छा का एक उपकरण मान कर कर्म करता है। ईश्वरार्पण का यह भक्तिभाव मनुष्य के कर्मों को महात्मा गाँधी ने गीता में वर्णित विचारों के प्रभाव में शारीरिक-श्रम को अनिवार्य मानते हुए अनासक्तियोग का प्रतिपादन किया है। गीता में शरीर को प्राकृतिक और यांत्रिक माना गया है। तथा आत्मा को स्वाधीन और स्वतंत्र माना गया है। कर्म प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि शरीर भी प्राकृतिक है इसलिए शरीर से कर्म सहज रूप में होते है। आत्मा शरीर रूपी क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ (स्वामी) और नियन्ता (नियन्त्रित करने वाला) है। शारीरिक कार्य यांत्रिक रूप से हों, किन्तु आत्मा उन कर्मों के फलों से प्रभावित न हो इसके लिए आत्मा की स्वतंत्रता को मानना आवश्यक है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ-'स्व', 'तंत्र' अर्थात् आत्मा का शरीर तन्त्र न होना। इस प्रकार आत्मा की स्वतंत्रता से अभिप्राय है-स्वयं को शरीर तन्त्र या शारीरिक कर्मों और उसके फलों के अधीन न समझना। अतः गाँधीजी मानते है कि शारीरिक श्रम अनिवार्य है। निष्काम कर्मयोग के अन्तर्गत अनासक्त भाव से कर्म करने पर आत्मिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार के नियत कर्म संभव होते है। जो लोग तत्वज्ञान से वंधित है वे शरीर और आत्मा में मिथ्या अभेद मान लेते है। इसी अज्ञान के कारण मनुष्य अकर्त्ता होते हुए भी स्वयं को कर्ता एवं फलों का भोक्ता मानने लगता है। गाँधीजी कहते है- शारीरिक श्रम आवश्यक है लेकिन यह अनासक्तियोग की भावना के आधार पर आधारित होना चाहिए।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि गाँधीजी की अनासक्तियोग की अधिकांश मान्यताएँ गीता में वर्णित विचारों को ही व्यवहारिक रूप में वर्णित करने का एक प्रयास है। यद्यपि महात्मा गाँधी जी क्रियाकलापों के अध्ययन से गीता में वर्णित नीति सिद्धान्त को सही रूप में समझा जा सकता है। आज का मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेकानेक समस्याओं से घिरा रहता है। इसका प्रमुख कारण है आधुनिक मनुष्य आत्मकेन्द्रित है। वह जीवन के उच्चतर मूल्यों के प्रति उदासीन है। करूणा, सहानुभूति, सेवा और त्याग तथा कर्तव्यनिष्ठा के आदर्श गौण हो गये है। जिसका प्रमुख कारण है कि वह देखता है कि अच्छे लोग दुःख भोग रहे है और अनैतिक लोग

सुखी सम्पन्न हैं। यह देखकर आधुनिक मनुष्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अच्छा होना अच्छी बात नहीं है। अतः उसे सही निर्देश और दिव्य परामर्श की आवश्यकता है जो उन्हीं लोगों से प्राप्त हो सकती है जो महात्मा गाँधी की भाँति वास्तविक अर्थ में दार्शनिक है। गाँधीजी अनासक्तियोग द्वारा मनुष्य मात्र को नैतिक आचरण के उच्चतर स्तर पर ले जाने की कामना करते है।[6] गाँधीजी के लिए नैतिकता जीवन का मूल आधार है। व्यक्ति और समाज का अस्तित्व और विकास नैतिक मूल्यों पर निर्भर है।[7] अपने नैतिक-विचारों और आदर्शों के लिए गाँधीजी ने प्राचीन ग्रन्थों से प्रेरणा ली, जिसमें विशेषकर गीता में वर्णित नैतिक आदर्शवाद का प्रभाव सर्वाधिक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. रानाडे, आर.डी., दि कन्सेप्शन ऑफ स्प्रिचुअल लाइफ इन महात्मा गाँधी एण्ड हिन्दी सेन्ट्स, गुजरात विधानसभा, अहमदाबाद, पृ.6-9, इसके अतिरिक्त प्रष्टव्य गाँधी का दर्शन, संगमलाल पाण्डेय, अध्याय दो, पृ. 17-29.
2. कर्मठौव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन कुर्तमर्हसि।। (गीता 3/20)
3. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्वम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। (गीता 3/15)
4. हिरियन्ना, एम., आउट लाइन्स ऑफ इन्डियन फिलासीफी, पृ.118-121.
5. गीता 2/47
6. भवन्स जर्नल, वॉल्यूम 42 नं.5, 15 अक्टूबर 1955. पृ-31
7. प्रो. डी.एम. दत्ता, दी फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1968, पृ.-23।

हठयोग एवं क्रियायोग : एक तुलनात्मक विवेचन

प्रफुल्ल चन्द,
शोध-छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग,दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,गोरखपुर

आध्यात्मिक जीवन में योग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक काल से लेकर आज तक जिन्होंने भी आत्म-साक्षात्कार या ईश्वर-साक्षात्कार किया है, उनका योग से अनिवार्य सम्बन्ध रहा है। बिना योग के अध्यात्म में प्रवेश असम्भव है, इसलिए शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष योगानुशासन पर आश्रित है। भारतीय भूमि पर योग की समृद्धता का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि यहाँ ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, क्रियायोग, राजयोग आदि विभिन्न योग विधा आत्म-साक्षात्कार हेतु प्रकाशित हुयी है। ये समस्त विधाएं स्वपरीक्षण, स्वानुभूति पर आधारित है। यह मनुष्य को स्वयं से परिचित कराने का एक विज्ञान है। ये स्वयं में लौटने का मार्ग एवं स्वयं को जानने की विधि प्रस्तुत करते हैं।

भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत को समृद्ध करने वाला 'नाथ पंथ' भारत का एक प्रमुख धार्मिक एवं आध्यात्मिक पंथ है जिसके 'मूल' संस्थापक एवं आराध्य भगवान शिव है तथा इस परम्परा की विरासत को आगे बढ़ाने का कार्य गुरू मत्स्येन्द्रनाथ, गुरू गोरखनाथ द्वारा किया गया जो कि ब्रह्मचर्य, योगयुक्त, लोक-कल्याण, सर्वजन-हिताय की भारतीय ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परम्परा पर आधारित है। नाथपंथ में बौद्ध, शैव तथा योग की परम्पराओं का समन्वय मिलता है। इस सम्प्रदाय ने हठयोग की साधना पद्धति द्वारा यौगिक क्रियाओं को पुर्नजीवित कर वैज्ञानिक रूप दिया है।

हठयोगियों के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के अनुसार, हठयोग में 'ह' का अर्थ हकार यानी सूर्य नाड़ी (पिंगला नाड़ी) तथा 'ठ' का अर्थ ठकार यानी चन्द्र नाड़ी (इड़ा नाड़ी) है, इन्हीं का मिलन ही हठयोग है। हठयोग की व्याख्या विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न प्रकार से की गयी है। जैसे- शिव संहिता 5 पटल में विभक्त है, गोरक्ष संहिता 2 शतक में विभक्त है, हठयोग प्रदीपिका 4 उपदेशों में विभक्त है तथा घेरण्ड संहिता 7 उपदेशों में विभक्त है। अन्ततः विभिन्न योग ग्रंथो में हठयोग की प्रविधि भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त की गयीं हैं।

हठयोग साधना पद्धति द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास को गति मिलती है। जो साधक को संयमित तरीके से यौगिक साधना के लिए तैयार भी करती है। नाथपंथी दैहिक काया को परमात्मा के घर सदृश्य मानते हैं इसीलिए नाथ पंथियों में अखंड ब्रह्मचारी होना सबसे उत्कृष्ट एवं कठोर साधना है। काया-शोधन में नाथपंथी यम, नियम को सहायक तत्व के रूप में स्वीकारते हुए हठयोग के षट्कर्म (नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति और त्राटक) को अपनाते है। परिणामतः नाथपंथ शारीरिक अनुशासन, संयमित जीवन को अपनाने के साथ ही आत्म-साक्षात्कार तथा सभी प्रकार के बंधनों से छुटकारा पाने को साध्य मानते है। इसलिए हठयोग आत्म-साक्षात्कार की स्थिर नहीं, अपितु गतिशील प्रक्रिया है।

हठयोग की मुख्य उक्ति Healthy mind in a healthy body है। जो शरीर एवं उनमें निहित नाड़ीयों को शुद्ध करने पर बल देता है। हठयोगियों का मत है कि हठयोग-साधना का प्रारम्भ साधक के काया-शोधन (शारीरिक शुद्धि) से किया जाना चाहिए, जिससे की शरीर यौगिक साधना के लिए पूर्णतः तैयार हो जाय तथा मन अन्य विषयों की ओर आसक्त होने के बजाय शारीरिक क्रिया में सग्लन होकर उर्ध्वगामी हो सके, साथ ही उसे आत्मतत्व की ओर उन्मुख होने

में सहायता प्राप्त हो। हठयोग गुरू-शिष्य परम्परा पर आधारित है। इस साधना को बिना गुरू की सहायता से अभ्यास करने पर अधिक सम्भावना है कि साधक अभ्यस्त होने के जगह विकारयुक्त हो सकता है, इसलिए काया-शोधन किसी सिद्ध गुरू के निर्देशन तथा मार्गदर्शन में ही किया जाना चाहिए, जिससे साधना में अनुकूल परिणाम प्राप्त हो। हठयोग की साधना काया प्रधान इसलिए है, क्योंकि शारीरिक ऊर्जा का उदात्तीकरण करके ही साधक शरीर में स्थित मन तथा प्राण को संयमित कर सकता है। इस अर्थ में विभिन्न योगों का लक्ष्य एवं उद्देश्य एक ही है, मार्ग एवं विधियाँ अलग-अलग है। स्वभाव, प्रकृति एवं संस्कार के अनुसार मनुष्य अन्य-अन्य योग पद्धतियों का चयन करता है।

इस चयन के क्रम में घेरण्ड संहिता के अनुसार- हठयोग के सात अंग हैं- षट्कर्म, आसन, मुश्व, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि है। जिसका विवेचन निम्नवत् है-

षट्कर्म- षट्कर्म का अर्थ है- छः कर्म या क्रिया। धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक, कपालभाति जिसके अंग हैं।

1. धौति - साधक के मुख से गुदा मार्ग तक समस्त नलिकाओं के शुद्धिकरण की प्रक्रिया है।
2. वस्ति - यह गुदा प्रदेश से नाभि (बड़ी आँत) तक सुचिता लाने की प्रक्रिया है।
3. नेति - नासिका स्थल को स्वच्छ तथा निर्मल करने की विधि है।
4. नौलि - यह पेडू (उदरस्थ प्रदेश) के स्नायुओं को संतुलित एवं सबल बनाने की विधि है।
5. त्राटक - यह साधक द्वारा अपलक दृष्टि से किसी सूक्ष्म विषय पर निरन्तर अनुशीलन की प्रक्रिया है। इसके अभ्यास से तन्श्व का अन्त होता है तथा चित्त में एकाग्रता आती है।
6. कपालभाति - यह श्वासों के रेचन द्वारा मस्तिष्क प्रदेश में शुद्धता एवं स्थिरता लाने की विधि है।

इस प्रकार षट्कर्म शरीर के शोधन की सुव्यवस्थित प्रक्रिया है। जिसका अभ्यास मूल रूप से शारीरिक सन्तुलन के लिए किया जाता है। 'योगी के लिए उक्त छहों क्रियाएँ अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इनसे देह-शुद्धि, रोग-निवृत्ति और स्वास्थ्यवृद्धि होती है। यह क्रियाएँ आभ्यान्तरिक दोषों का शमन करने में बहुत सहायक होती है। चिकित्सा शास्त्र औषधियों के द्वारा मनुष्य को स्वस्थ रख सकता है, जबकि योगशास्त्र के अनुसार यह छः कर्म ही शरीर को पूर्णरूप से निरोग रख सकते हैं।[1] इन क्रियाओं द्वारा साधक निरोगी काया प्राप्त करने की चेष्ठा करता है। षट्कर्म का उद्देश्य मानव शरीर में विद्यमान वात, पित्त तथा कफ तीनों को संतुलित करना है, जिससे साधक साधना करने योग्य शरीर प्राप्त कर सके।

आसन- शरीर में स्थिरता तथा लचीलापन लाने के लिए आसनों का अभ्यास किया जाता है। जैसे कि 'महर्षि घेरण्ड ने कहा है- संसार में जितने जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है। भगवान् शिव ने पहले चैरासी लाख आसन कहे थे, उनमें से चैरासी आसन श्रेष्ठ हैं। उन चैरासी आसनों में भी बत्तीस आसन अति विशिष्ट और अधिक शुभ समझने चाहिए।[2] आसनों के सम्बन्ध में हठयोगियों का विशेष आग्रह इसलिए है कि इसके अभ्यास से साधक का मन एक स्थान एवं समय में स्थिर होने लगता है, जिससे एकाग्रता तथा ध्यान केन्द्रित करने में सहायता मिलती है, साथ ही 'आसन के द्वारा चित्त विक्षेप कारक त्रिगुणात्मक विकारों का शमन होकर योगाभ्यास में दृढ़ता प्राप्त होती है।[3]

मुश्व- घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड ने पच्चीस मुश्वओं (महामुश्व, नभोमुश्व, खेचरी मुश्व विपरीतकरिणी मुश्व आदि) का वर्णन किया है। इसके अभ्यास से चक्र, नाड़ीयाँ तथा सूक्ष्म शरीर

सक्रिय एवं सन्तुलित होते हैं। जिस प्रकार बाह्य जगत में संतुलन के लिए पंचतत्त्व पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश की सम्यावस्था आवश्यक है उसी प्रकार आन्तरिक सन्तुलन के लिए मुश्वओं का अभ्यास आवश्यक है। इस रूप में 'मुश्वओं की गोपनीय क्रिया कुण्डलिनी शक्ति को जगाने और चक्रवेध के लिए उपयोगी होती है।[4]

प्रत्याहार- यह बाह्य जगत से सम्बन्ध विच्छेदन की प्रक्रिया है। मनुष्य काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि के कारण सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है, जिससे उसकी चेतना बर्हिगामी हो जाती है तथा उसकी ऊर्जा अनावश्यक कार्यों में व्यय होती है। साधक प्रत्याहार द्वारा उसी ऊर्जा को संयमित करके अपनी साधना की गति को तीव्र करता है। इसके अभ्यास द्वारा साधक के भीतर दृढ़ता एवं धैर्य का उदय होता है। अन्ततः 'मन को सब विषयों से हटाकर आत्मा के वश में करना ही प्रत्याहार कहलाता है।[5]

प्राणायाम- सजग एवं जागरूक होकर जब हम प्राण-वायु को भीतर एवं बाहर करते हैं तभी वह प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के तीन अंग हैं- पूरक (श्वास लेना), रेचक (श्वास छोड़ना) तथा कुम्भक (श्वास रोकना)। आम तौर पर जो हम श्वास लेते तथा छोड़ते हैं उसे प्राणायाम नही कहा जा सकता क्योंकि इसमें सन्तुलन और जागरूकता का अभाव पाया जाता है। जब पूरक, रेचक एवं कुम्भक तीनों सजग रूप से क्रियाशील रहते हैं, तब यह अभ्यास सामान्य श्वासों की गति न रहकर प्राणायाम में परिणत हो जाती है। हठयोग में अनेकों प्राणायाम (उज्जायी, शीतली, भ्रामरी आदि) का वर्णन है। प्राणायाम से इडा और पिंगला नाड़ीयाँ सक्रिय हो जाती हैं तथा इसके निरन्तर अभ्यास से प्राण-ऊर्जा सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाती है, जिससे प्राण-ऊर्जा नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगती है तथा हमारे चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा चक्र) को भेदति हुयी सहस्त्रार में प्रवेश कर जाती है। यही प्राणायाम का वास्तविक लक्ष्य है, इसलिए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि 'प्राणायाम का अभ्यास करने वाला मनुष्य देवता के समान हो जाता है।[6]

ध्यान- अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा को एक स्थान बिन्दु पर केन्द्रित करना, जिससे मन विचाररहित हो ऐसी अवस्था ध्यान कहलाती है। दूसरे शब्दों में, मन का अनिवार्य रूप से वर्तमान में होना, न तो वह भूतकाल में यात्रा करे और न ही भविष्य की उसे लालसा हो, ऐसी स्थिति ध्यान है। ध्यान के सन्दर्भ में महर्षि घेरण्ड का वचन है-

स्थूलं ज्योतिस्तथासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं चिन्मयं ब्रह्मकुण्डली परं देवता।। - घेरण्ड संहिता 6/1

अर्थात् 'स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान के भेद से ध्यान तीन प्रकार का होता है। स्थूल ध्यान वह कहलाता है जिससे मूर्तिमय इष्टदेव का ध्यान हो, ज्योतिर्मय ध्यान वह है जिससे तेजोमय ज्योतिरूप ब्रह्म का चिन्तन हो तथा सूक्ष्म उसे कहते हैं, जिससे बिन्दुमय ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति का चिन्तन किया जाय।[7]

समाधि- 'सभी द्वन्द्वों का अन्तरूपी ऐक्य अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य जान कर सभी संकल्पों को नष्ट करता हुआ साधक ध्येय में ही लीन हो जाय उसी अवस्था को समाधि कहते हैं।[8] यह इन्द्रिगत अनुभवों से अनासक्ति या विकर्षण की अवस्था है। समाधि में साधक का सत्व गुण प्रकाशित हो जाता है, प्राण-ऊर्जा अन्य गुणों रज, तम को छोड़कर केवल सत्व में प्रवाहित

होती है तथा साधक की प्रकृति पूर्ण रूप से सत्वयुक्त हो जाती है, इसलिए यह चेतना की पूर्ण जागरण की अवस्था है। इस प्रकार प्रत्येक द्वैत का अन्त ही समाधि है।[9]

क्रियायोग की भाषा अस्तित्वगत, अनुभवगत एवं प्रायोगिक है। 'क्रिया योग एक प्राचीन विज्ञान है। लाहिड़ी महाशय को यह उनके महान गुरु बाबाजी से प्राप्त हुआ था, जिन्होंने अंधकार युगों में इसके लुप्त हो जाने के बाद फिर से उसे प्रकट कर परिष्कृत किया। बाबा जी ने इसे क्रिया योग का सीधा सादा नाम दिया।[10] क्रियायोग एक अस्तित्वगत प्रक्रिया है तर्कगत नहीं। इसीलिए कोई भी साधक इसे भाषा विशेष के ज्ञान से नही समझ सकता। इसे अनुभवगम्य बनाने के लिए गुरू के मार्गदर्शन में यौगिक साधना को अपने जीवन का प्रधान अंग बनाना अनिवार्य है क्योंकि 'गुरु अपने में प्रज्ज्वलित ईश्वर के प्रकाश को आपमें संचारित कर देता है।[11]

'क्रियायोग में क्रिया संस्कृत शब्द कृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है करना, कर्म और प्रतिकर्म करना; अतः क्रियायोग का अर्थ है 'एक विशिष्ट कर्म या विधि (क्रिया) द्वारा अनंत परमतत्व के साथ मिलन (योग)।' इस विधि का निष्ठापूर्वक अभ्यास करने वाला योगी धीरे-धीरे कर्म-बंधन से या कार्य-कारण संतुलन की नियमबद्ध श्रृंखला से मुक्त हो जाता है।[12] इसे गृहस्थी के सभी कर्मों का पालन करते हुए साधा जा सकता है। इसमें प्राण की उपासना है जो सबके अन्दर सर्वदा विद्यमान है। यदि शरीर क्षतिग्रस्त हो जाय तब भी जीवन शेष है, मन जड़वत् हो जाये तब भी जीवन शेष है, किन्तु प्राण संचरणशील न हो तो जीवन समाप्त हो जाता है। इसलिए प्राण ही जीवन का आधार है। जैसा कि हठयोग प्रदीपिका में कहा है-

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्यनिष्क्रांस्तितो वायुं निरोधयेत्।। - हठयोग प्रदीपिका 2/3

अर्थात् 'शरीर में जब तक प्राण वायु है तभी तक जीवन कहलाता है और जब शरीर से प्राणवायु निकल जाता है तब उसे मरण कहते हैं, इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए।[13]

क्रियायोग आत्म-साक्षात्कार का एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा मानवीय क्रमविकास की गति तीव्र की जा सकती है, साथ ही प्राणशक्ति की अनवरत् अवश्यकता से स्वयं को मुक्त किया जा सकता है। इसलिए श्रीकृष्ण भगवद्गीता में योगी की प्रशंसा एवं योग की विशिष्टता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।। - भगवद्गीता 6/46

''योगी शारीरिक तप करने वालो तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानयोगियों से भी श्रेष्ठ है, अथवा कर्मयोगियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन! तू योगी बन।[14]

क्रियायोग का आधार प्राण-शक्ति है और यह समस्त जगत प्राणमय है। इसी कारण प्राण ही जीवन का सार तत्त्व है तथा प्राण ही हमारे समस्त कर्मों का प्रेरक तत्त्व भी है। यही वह तत्त्व है जो जीवन को गतिशील एवं नियोजित करती है। क्रियायोग पद्धति की समस्त गोपनीय क्रियाएं साधक को आध्यात्मिक पथ से जोड़ती हैं। जिससे मानव शरीर में निहित प्राण को ऊर्जा प्राप्त हो सके। इस चराचर जीवन में केवल मानव ही नहीं, बल्कि प्रत्येक प्राणी को जीवन-ऊर्जा प्राप्त है, जगत में अस्तिवान सभी जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि को प्राणी कहा जाता है, इसका अभिप्राय यही है कि सभी में प्राण तत्व विद्यमान है। किन्तु मानव इस ऊर्जा का उपयोग करके स्वयं को उन्नत करने के लिए प्रयासरत् है अथवा नहीं, यह उसकी आध्यात्मिक रूचि पर निर्भर करती है। जिसे शंकराचार्य ने मुमुक्षा कहा है।

प्राण-शक्ति की उन्मुखता हमारे द्वारा लिये गये श्वास पर निर्भर करती है। इस प्रकार मनुष्य 24 घण्टे में 21600 बार श्वास लेता है, परिणामतः उसका मन अत्यधिक चंचल हो जाता है। हम इसे प्राणायाम द्वारा संयमित एवं सन्तुलित कर सकते हैं और श्वासों की संख्या को कम करके, मन की चंचलता को परिमार्जित करते हुए, इसे स्वयं की ओर गतिशील बनाया जा सकता है। प्राणवायु की चंचलता तथा उसके निरोध के संदर्भ में हठयोग प्रदीपिका में वर्णन है-

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् – हठयोग प्रदीपिका 2/2

अर्थात् 'प्राणवायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल हो जाता है, और प्राणवायु स्थिर हो तो चित्त भी निश्चल होता है। यदि वायु और चित्त दोनों ही निश्चल रहें तो स्थाणुत्व की प्राप्ति होती है। इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए।[15]

क्रियायोग साधना के सोपान निम्नवत् हैं-

शक्ति संचार व्यायाम- सभी मनुष्य एक बाह्य तथा अंतर्जगत् से संयुक्त है, जीवन जितना बाहर है उससे कई अधिक सूक्ष्म रूप में मनुष्य के भीतर संग्रहित है। 'जब आप ऐसे आत्मानुशासन का अभ्यास करते हैं तब आपका मन विचलित करने वाली परिस्थितियों से अप्रभावित रहता है।[16] इस रूप में शक्ति संचार व्यायाम मनुष्य में व्याप्त संग्रहित ऊर्जा को जाग्रत करने में सहयोगी है तथा मनुष्य की प्रत्येक कोशिका इसके द्वारा क्रियाशील हो जाती है। जिससे साधक को साधना में गति मिलती है, साथ ही वह अगले सोपान में प्रवेश के लिए सक्षम हो जाता है। 'क्रिया योग एक सरल मनःकायिक प्रणाली है जिसके द्वारा मानव-रक्त कार्बन रहित होकर आक्सीजन से प्रपूरित हो जाता है। इस अतिरिक्त आक्सीजन के अणु प्राण-धारा में रूपान्तरित हो जाते हैं, जो मस्तिष्क और मेरुदण्ड के चक्रों में नवशक्ति का संचार कर देती है।[17] जो समस्त मानवीय ऊर्जा का स्त्रोत है।

हंसः प्रविधि- आती-जाती श्वास का अनवरत् दर्शन करना ही हंसः प्रविधि है। हंसः प्रविधि के अभ्यास से साधक का मन प्राण-वायु से संयुक्त हो जाता है। इस प्रविधि में साधक श्वास को स्थिर या निश्चल तथा मन को एकाग्र करने के लिए जितना श्वास लेता है, उतनी ही छोड़ता है। अन्ततः उसकी श्वांस की संख्या कम होती जाती है। इसके द्वारा क्रियायोगी शरीर के प्रत्येक क्रियात्मक इकाई को इस प्रकार क्रियाशील बनाता है कि वह प्रकाशयुक्त होकर आध्यात्मिक जगत की ओर आकर्षित हो सके। इसी सन्दर्भ में योगानन्द जी कहते हैं कि 'अपने आप को बदलने के लिये तुम्हें किसी और व्यक्ति या चीज की जरुरत नहीं है; केवल अपनी चेतना को बदलना है।[18]

ऊँ प्रविधि- 'ओम् ब्रह्मनाद या ब्रह्माण्डीय स्पंदन का संकेत करने वाला बीज शब्द या बीज ध्वनि है।[19] इसीलिए ऊँ प्रविधि में साधक ऊँ नामक ब्रह्माण्डीय ध्वनि को सुनने का अभ्यास करता है। इस प्रविधि का उद्देश्य बाह्य जगत् तथा अभ्यान्तर जगत की ऊँ ध्वनि को संयुक्त करना है। 'सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ओम् या आमेन या शब्द या पवित्रात्मा की स्पन्दनात्मक ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से उत्पन्न हुई है।[20] साधक ओम् के नाद द्वारा जगत के स्पन्दन (प्रत्येक कण में व्याप्त ऊँ ध्वनि) को अनुभूत कर ब्रह्मनाद के गुंजन तथा ब्रह्माण्ड के आन्तरिक सम्बन्ध का योग करता है। अन्ततः वह साक्षी स्वरूप हो जाता है। तत्पश्चात् अगले सोपान में प्रवेश के लिए साधक ऊँ प्रविधि द्वारा असीम ऊर्जा को संग्रहीत कर लेता है, साथ ही यह चेतना में गुणात्मक परिवर्तन लाने की एक प्रविधि है।

क्रियायोग प्रविधि- क्रियायोग प्रविधि प्राणायाम तथा ध्यान की संयुक्त पद्धति है। इस प्रविधि को केवल गुरू-शिष्य सम्बन्ध द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् यह एक गोपनीय प्रविधि है। इस प्रविधि में गुरू अपने शिष्य को एक विशिष्ट क्रिया प्रदान करता है। जिसके अनवरत् अभ्यास द्वारा साधक आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है। साधक जितना इस क्रिया का अभ्यास करता है, वह उतना ही ईश्वरोन्मुख होता जाता है। इस प्रविधि द्वारा साधक का मन सुषुम्ना में निरन्तर क्रियाशील रहता है। जिससे मन की समस्त चंचलता समाप्त हो जाती हैं। साथ ही मन स्थिर होकर, आनन्द-मग्न की स्थिति में, प्राण समेत, आत्मा में मिलकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। यही क्रियायोग का वास्तविक प्रतिफल है। वर्तमान जीवन पद्धति के कारण 'हमारे अन्तर्ज्ञान की टेलीफोन व्यवस्था खराब हो गई है। ईश्वर हमें पुकार रहे हैं और हमसे बातें कर रहे हैं, परन्तु हम उन्हें नहीं सुन पा रहे हैं।[21] आवश्यकता इस बात की है कि क्रियायोग के विभिन्न सोपनों का पालन कर जीवन के मूल उद्देश्य को प्राप्त करे। इस रूप में देखा जाये तो क्रियायोग में 'ध्यान की कुछ ऐसी उन्नत प्रविधियाँ हैं जिनके अभ्यास से साधक आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करता है।[22]

हठयोग एवं क्रियायोग मूलतः गुरु-शिष्य परम्परा पर आधारित हैं। दोनों का चरम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार करना है, किन्तु साधना के प्रारम्भ बिन्दु पर दोनों भिन्न है। जिसमें हठयोग साधन का केन्द्र शरीर जबकि क्रियायोग साधना का मूल आधार शरीर में निहित प्राण-तत्व है। आज के भोगवादी-युग में हमें ऐसे परिवेश की नितान्त आवश्यकता है जो हमें ईश्वरोन्मुख कर सके या स्वयं के साक्षात्कार में सहयोगी हो। हमारी वर्तमान मानसिक प्रवृत्ति तृष्णायुक्त एवं भोगवादी है जिसके परिणाम-स्वरूप जीवन-ऊर्जा अधोगामी होती जा रही है। इसके उर्धगमन के लिए हमें गुरू-शिष्य परम्परा की ओर उन्मुख होने की आवश्यकता है। जिससे हमें वह अमृत-ज्ञान उपलब्ध हो सके जो इस सांसारिक-जीवन के मुक्ति का आधार हो। जैसा कि शिव संहिता में वर्णित है-

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम्।।
हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
तस्मात् प्रवर्ततते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः।। - शिव संहिता 5/216-17

अर्थात् 'वह ब्रह्म न तो वाणी से प्राप्त हो सकता है, न मन से ही अर्थात् ब्रह्म मन-वाणी का विषय नहीं है, वरन् योगाभ्यास रूपी साधन और निर्मल ज्ञान के द्वारा स्वयं ही प्रकाशित होता है, यह निश्चय ही सत्य है। हठयोग के बिना राजयोग की सिद्धि नहीं हो सकती और न राजयोग के बिना हठयोग की ही सिद्धि संभव है। इसलिए योगी को सद्गुरु की शिक्षा के अनुसार हठयोग में प्रवृत्त होना चाहिए।[23]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गौतम, डॉ0 चमनलालः घेरण्ड-संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 21
2. वही, पृ0- 50
3. गौतम, डॉ0 चमनलालः हठयोग प्रदीपिका, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 28
4. गौतम, डॉ0 चमनलालः घेरण्ड-संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 82-83
5. वही, पृ0- 124
6. वही, पृ0- 128

7. वही, पृ0- 165
8. गौतम, डॉ0 चमनलालः गोरक्ष संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 140
9. गौतम, डॉ0 चमनलालः घेरण्ड-संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 175
10. योगानन्द, परमहंसः योगी कथामृत, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2017 पृ0- 333
11. योगानन्द, श्री श्री परमहंसः जीवन का पुनर्निर्माण, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2020 पृ0- 10
12. योगानन्द, परमहंसः योगी कथामृत, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2017 पृ0- 332
13. गौतम, डॉ0 चमनलालः हठयोग प्रदीपिका, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 61
14. योगानन्द, परमहंसः योगी कथामृत, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2017 पृ0- 344
15. गौतम, डॉ0 चमनलालः हठयोग प्रदीपिका, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 60-61
16. योगानन्द, श्री श्री परमहंसः चिंतामुक्त जीवन, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2020 पृ0- 17
17. योगानन्द, परमहंसः योगी कथामृत, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2017 पृ0- 332-33
18. योगानन्द, श्री श्री परमहंसः जीवन का पुनर्निर्माण, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2020 पृ0- 26
19. वही, पृ0- 43
20. वही, पृ0- 44
21. योगानन्द, श्री श्री परमहंसः ईश्वर से वार्तालाप की विधि, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2018 पृ0- 23
22. योगानन्द, श्री श्री परमहंसः जीवन का पुनर्निर्माण, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2020 पृ0- 45
23. गौतम, डॉ0 चमनलालः शिव संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ0- 165-66

पं0 दीन दयाल उपाध्याय की राष्ट्र की संकल्पना एवं राष्ट्रीय चेतना

अजीता यादव
शोध छात्र, दर्शन शास्त्रविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

आजकल राष्ट्र और राज्य (Nation and State) दोनों को लगभग समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है। परन्तु पं0 दीन दयाल उपाध्याय ने दोनों को भिन्न तत्व माना है एवं राष्ट्र और राज्य के आपसी सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला है। हमारे देश के इतिहास से पता चलता है कि विभिन्न कालों में यहाँ न्यूनाधिक संख्या में अनेक राज्य थे किन्तु विभिन्न राज्यों के अस्तित्व के कारण भारत के राष्ट्र स्वरूप को कोई बाधा नहीं पहुची दक्षिण - उत्तर, पूर्व - पश्चिम के विभिन्न राजघराने और उनके छोटे - बड़े स्वायत्त राज्य भले ही यहां रहे हो।

उत्तरं यत् समुद्रस्य हियाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षतद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः।।[1]

यदि हम राष्ट्र एवं राज्य के प्रयोग को भारतीय एवं पाश्चात्य सन्दर्भ में देखें तो पता चलता है कि राष्ट्र का प्रयोग भारतीय सन्दर्भ में परम्परा से होता आया है। वहीं पश्चिम में राज्य की अवधारणा का प्रयोग अधिक होता आया है। उदाहरणार्थ यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, पूर्वी जर्मनी एवं पश्चिमी जर्मनी, वियतनाम के दो अलग - अलग राज्य तथा इसी प्रकार विश्व के अनेक देश जो कालान्तर में एक राज्य / राष्ट्र के रूप में एकीकृत हुए। इस सन्दर्भ में आधुनिक काल के पाश्चात विचारकों लॉक, हाब्स, रूसो आदि एवं प्राचीन विचारको प्लेटो, अरस्तू आदि का उदाहरण ले सकते हैं जिन्होंने राज्य (State) की अवधारणा का प्रयोग किया है।

यह राष्ट्र कल्पना स्पष्ट रूप से भारतीय परिकल्पना थी जिसमें मातृभूमि और उस भूमि पर रहने वाला एक संस्कृति धारा में पला पुत्ररूप समाज था। यही प0 उपाध्याय की राष्ट्र संकल्पना थी। इस बात को और स्पष्ट करते हुए पं0 दीन दयाल ने कहा है कि राज्य का स्वरूप जिस प्रकार अस्थिर होता है, राष्ट्र का स्वरूप कभी वैसा अस्थिर नहीं हुआ करता। आज हम देखते हैं कि राज्यों की सीमायें बदली जा सकती हैं, राज्यकर्ता भी बदल जाते हैं, एक राज्य के दो राज्य बनाये जा सकते हैं तथा दो राज्यों को मिला कर एक राज्य भी बन सकता है। इन सभी स्थितियों में राष्ट्र मूलरूप में एक स्थिर एवं स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उदाहरण के लिए चीन ने तिब्बत पर अधिकार कर लिया है लेकिन तिब्बत चीनी राज्य का अंग नहीं बन सका। भारत में अंग्रेजों का राज्य 150 वर्षों तक रहा किन्तु यह भारत राष्ट्र हमेशा भारत राष्ट्र ही रहा है। इस सन्दर्भ में पं0 दीन दयाल की निम्न उक्ति उद्धरणीय है;'राष्ट्र एक स्थायी अवधारणा है। विशिष्ट स्वभाव वाले लोक समूह को प्रदीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया से विशिष्ट भू प्रदेश पर राष्ट्रत्व प्राप्त होता है। राष्ट्र एक जीवमान वस्तु (Living organism) है, तो राज्य सुविधा के लिए निर्मित एक व्यवस्था (Machinary) है।[2]

राष्ट्र के बारे में आजकल सामान्यतः जो विचार किया जाता है वह पं0 दीनदयाल जी को स्वीकार्य नहीं था। हमारा हिन्दुस्तान एक प्राचीन देश है। एकात्म जनसमूहगत हजारों वर्षो के काल में एक राष्ट्र के रूप में यहां रहता आया है। इतिहास में इस राष्ट्रीय भावना के पद चिन्ह अमिट अंकित हैं। राष्ट्र शब्द का प्रचुर प्रयोग वेद संहिताओं के समय से ही यहां होता आया है। श्री सुक्तम् या लक्ष्मी स्तोत्र में लाखों भारतीय इनका पालन एवं आवर्तन करते रहते हैं। उन्हीं में से लक्ष्मी का आह्वान करने वाली एक पंक्ति निम्न प्रकार है - पालन

उपैतु मां देवख : कीर्तिश्च मणिना सह।
पादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे।।[3]

अर्थात् - क्योंकि मैं इस उत्तम राष्ट्र में जन्मा हूँ, मुझे कीर्ति एवं समृद्धि प्राप्त हो। इसमें एक अभिमान है, मातृभूमि के प्रति श्रद्धा है। यह राष्ट्र जीवन, उसके प्राणतत्व इस राष्ट्र के व्यक्ति एवं समाज की कर्म प्रेरणाओं की दिशा, कर्तव्य - अकर्तव्य का बोध, समाज का उत्थान एवं पतन, समाज एवं व्यक्ति के दुःख - सुख आदि का विचार इस हजारों वर्षों के काल में यहां किया गया था। पं 0 दीनदयाल जी ने इन प्रश्नों को गहराई एवं अध्ययनशीलता से चिन्तन किया है और पाया कि इस क्षेत्र की भारतीय चिन्तन में भी सार्वदेशिकता है।

भारतीयों के आध्यात्मिक तत्व - चिन्तन के साथ यह राष्ट्र चिन्तन पूर्ण रूपेण एक रूप है। भारतीय तत्त्व- वेत्ताओं ने राष्ट्र एवं राष्ट्रीय चेतना की तुलना शरीर एवं उसकी चेतना स्वरूप आत्मा से की है। जिस प्रकार आत्मा या चेतना के बिना जीवमान शरीर की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार राष्ट्रीय चेतना के बिना राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। भारत में राष्ट्रजीवन का विचार भी इसी प्रकार बिल्कुल शास्त्रीय पद्धति से किया गया है। देश भक्ति का विचार करने वाले शास्त्र को'दैशिक शास्त्र- देश का रक्षण करने वाला शास्त्र[4] की संज्ञा प्राप्त थी। देश भक्ति इसी का रूप है। संक्षेप में कहा जाय तो राष्ट्र ही पं 0 दीनदयाल जी का भगवान बन गया था। उनकी सारी शक्ति एवं बुद्धि इसी देवता की समृद्धि एवं सम्मान के लिए उपयोग में आ रही थी। इस कार्य के लिए उन्हें डॉ0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी का भी मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ था। डॉ0 मुखर्जी स्वयं भी पं0 दीन दयाल जी से बहुत प्रभावित थे इसलिए उन्होंने एक बार कहा था-'मुझे दो दीन दयाल मिल जाये तो मैं देश का भविष्य बदलकर रख दूँगा।[5] पंडित दीन दयाल जी स्वतंत्रता को भी बहुत महत्व देते थे तथा राष्ट्र निर्माण में उसका होना आवश्यक मानते थे। एक बार उन्होंने लिखा था-'राष्ट्र की सर्वांङ्गीण उन्नति के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात स्वतंत्रता का होना है। स्वतंत्रता केवल राजनीतिक नही अपितु आर्थिक, सामाजिक तथा मानसिक भी होनी चाहिए। हमें उन सभी बन्धनों से मुक्त होना चाहिए, जो हम पर लादे गये हों।[6]

सामान्यतः देश एवं राष्ट्र को समानार्थी समझा जाता है परन्तु देश शब्द स्थूलार्थ में राष्ट्र का समानार्थी नहीं होता है। देश एक विशिष्ट भूभाग होता है। भारत के विभिन्न भूभागों को भी देश' या प्रदेश कहा जाता है, उदाहरण के लिए तेलगू देशम महाराष्ट्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि। किन्तु इन शब्दों के उच्चारण से हमारे मन में राष्ट्र का भाव नहीं जागता विश्व में आज भी शायद कई भूभाग ऐसे हो सकते हैं जहाँ अभी तक राष्ट्र जीवन हैं ही नहीं। उनका नाम लेने से भी विशिष्ट राष्ट्र की प्रतिमा आँखों के सम्मुख साकार नहीं होती, किन्तु' भारत देश कहते ही राष्ट्र का विचार मन में जाग्रित होता है। यह सुन्दर देश हमारा कहते समय हमारा विचार केवल भूमि तक ही सीमित नहीं रहता, हमारी समुद्र से घीरी हुयी और उत्तर में हिमगिरि की पर्वतशाखाओं द्वारा संरक्षित मातृभूमि, उस पर रहने वाले राष्ट्रीय जनसमूह एवं उसकी सभी विशेषताएँ एक साथ हमारे सम्मुख साकार हो जाती हैं। हम जब किसी को' देशभक्त' कहते तब उसकी राष्ट्रभक्ति का ही निर्देश हमें करना होता है। अर्थात राष्ट्र के लिए भूमि की अपरिहार्यता अवश्य होती हैं। विशिष्ट भूखण्ड और उस पर रहने वाले' जन' - अर्थात मातृभूमि और उसके पुत्ररूप समाज के बिना राष्ट्र की परिकल्पना की ही नहीं जा सकती। भूमि और जन दिखाई देने वाली वस्तुएँ हैं। राष्ट्र का वर्णन करते समय उन्हीं का वर्णन करना पड़ता है। जैसे शरीर के आधार पर आत्मा, वैसे ही देश के आधार पर राष्ट्र होता है। यही कारण है कि देश कहते ही केवल

भूमिखण्ड की कल्पना या केवल मृण्मय भूमिखंड सामने नहीं आता बल्कि' वंदे मातरम्' या' माँ तुझे सलाम' गीत में वर्णित भाव ही मन में जागता है। प्रत्यक्ष राष्ट्रस्वरूप अधिक सूक्ष्म होता है। वह भावनात्मक और आँखों से न दिखाई देने वाला होता है।

देश और राष्ट्र को अगल नहीं किया जा सकता, किन्तु राष्ट्र एक अधिक सूक्ष्म, गूढ, चिरंतन अदृश्य सत्ता है, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। स्पष्ट है कि अपनी भूमि के प्रति ममता के नाते पूज्यता, आत्मीयता एवं श्रद्धा के भाव के बिना राष्ट्र सिद्ध नहीं होता। यह भाव न हो तो सारी राष्ट्रकल्पना ही विकृत हो जाती है।

किन्तु हमारे दैशिक शास्त्र के अनुसार भूमि तथा जन या भाषा, रहन - सहन की पद्धति, जय - पराजय, शत्रु - मित्र संबंध और राष्ट्र के बारे में प्रत्येक समान बात को राष्ट्रत्व देने वाला सूक्ष्म अदृश्य तत्त्व अत्यन्त अनोखा है। इस तत्त्व को शास्त्रकारों ने चिति की संज्ञा दी है। लगता है कि राष्ट्रविचार प्रस्तुत करते समय पं . दीनदयाल जी ने इसी संज्ञा को स्वीकारा है, इस अर्थ में कि वह राष्ट्र की चेतना है अथवा प्रकृति से पाया हुआ राष्ट्र का स्वभाव है। दैशिक शास्त्रकारों के अनुसार कृत्रिमता से राष्ट्र का निर्माण सम्भव ही नहीं है। राज्य का निर्माण कृत्रिमता से किया जा सकता है। विश्वयुद्ध के बाद ऐसे अनेक राज्यों का निर्माण हुआ भी है। राष्ट्र की अन्य भी अनेक छोटी - बड़ी संस्थाएँ कृत्रिम हो सकती हैं। मानव संस्थाओं को तो बना सकते हैं, किन्तु राष्ट्र का निर्माण उसकी चिति के साथ ही होता है। चिति अर्थात उस राष्ट्रीय चेतना का अस्तित्व राष्ट्र का अस्तित्व होता है। चिति के क्षीण होते ही राष्ट्र दुर्बल हो जाता है। चिति का पूर्णतः लोप होते ही राष्ट्र का भी लोप हो जता है। चिति शक्तिमान हो तो राष्ट्र का चौमुखी विकास होता है। प्रत्येक राष्ट्र की चिति उसका जीवनलक्ष्य होता है। राष्ट्र में उसके जीवनलक्ष्य के अनुसार सर्वांगीण जीवन चलता हो, तो राष्ट्र परम सुख अनुभव करता हैं।

प्रकृति, मनुष्यों तथा राष्ट्र में इसी तत्त्व की प्रतीति हमारे समक्ष आती है। बाह्य कारणों से, हो सकता है कि प्रकृति पर थोड़ा प्रभाव पड़ जाये। किन्तु वह अपने गुणधर्म को नहीं छोड़ती। ऐसी मूल प्रकृति के साथ ही राष्ट्र का जन्म हुआ करता है। वही राष्ट्र की चेतनाशक्ति होती है और आत्मशक्ति भी। वह सारे राष्ट्रीय जनसमूह को समा लेती है। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक एक कारण परंपरा द्वारा ही सिद्ध होती है। इस प्रकृति की विपरीत दिशा में राष्ट्र को ले जाने का प्रयास हुआ तो राष्ट्र में विकृतियाँ आ जाती हैं और नाना प्रकार की समस्याएँ निर्मित होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का निष्कर्ष भी यही है कि मनुष्य की निज प्रकृति की अवहेलना होने पर शरीर में नाना प्रकार के रोग उतपन्न हो जाते हैं, मनुष्य फिर अशांत एवं उदास बन जाता है। उसकी प्रसन्नता तिरोहित हो जाती है, कार्यशक्ति दुर्बल पड़ जाती है और वह सुखानुभूति से वंचित हो जाता है। यही बात राष्ट्र के लिए भी है।

राष्ट्रीय मानस की यह अद्भुत आंतरिक समानता एक विशाल भूखंड एवं जनसमाज में कृत्रिमता से कोई निर्मित नहीं कर सकता। वह तो स्वाभाविक ही होती है। आत्मा और परमात्मा के संबंध, मानव जीवन का लक्ष्य, इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ चारित्रिक गुण सम्पदा का चयन, ऐसी गुणसम्पदा को प्रत्यक्ष जीवन में उतारने वाले महापुरूषों के प्रति सम्मान, श्रद्धा एवं आदर, आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जिनके बारे में विविध भारतीय भाषाओं में एक सा मूल्यमापन करने वाली चिंतनधारा देखने को मिलती है। इस क्षीर न्याय की इस आंतरिक समानता को देखकर हम क्षणभर के लिए अवाक रह जाते हैं और सोचने लगते हैं कि अन्ततः इस समानता का आधार क्या है ? उसका कब और कैसे निर्माण हुआ ? हजारों वर्ष के प्रदीर्घ कालखंड में

अनगिनत परिवर्तन होने के बाद भी प्रत्येक बाह्य घटना को अपनी इच्छा के अनुरूप दिशा देने वाली कौन सी आन्तरिक शक्ति दीनदयाल जी के मन में भी ऐसी विचारश्रृंखला तैयार हुई और उन्होंने बताया- यह सारा चमत्कार चिति के नाम से पहचानी जाने वाली राष्ट्र की चिरजीवनशक्ति का ही है। राष्ट्रशरीर में इस शक्ति के कार्य को नकारा जा ही नहीं सकता। कोई कृतिमता से इस शक्ति का नियमन भी नहीं कर सकता। इसीलिए कहा जाता है कि राष्ट्र का निर्माण एक क्लब की भाँति नहीं किया जाता। न ही क्लब की भाँति उसे तोड़ा जा सकता है। कुछ करोड़ लोगों ने प्रस्ताव पारित किया, भली दूरी बातों के लिए कुछ निष्कर्ष निर्धारित कर दिये और यह निश्चित कर दिया कि वे सभी सदस्यों पर बंधनकारी होंगे, ऐसा राष्ट्र के बारे में नहीं हुआ करता। एक विशिष्ट जनसमूह समान जन्मजात प्रेरणा लेकर अवतीर्ण होता है। जैसे आत्मा शरीर का आलंबन लेता है, राष्ट्र का निर्माण भी उसी प्रकार होता है।

हम जिन्हें भारत की राष्ट्रीय विशेषताओं के रूप में स्वीकार करते हैं, वे सब राष्ट्र की चितिरूप आत्मा अथवा चेतनता की ही अभिव्यक्तियां है। इस चिति के प्रभाव के कारण ही हमारे मन में राष्ट्र के समान परम्परा वाले समस्त जन समाज के प्रति ममत्व की भावना जागती है। इसका आधार आर्थिक स्वार्थ नहीं होता चिति स्वभाव है और उसी में सुखानुभूति होती है। भारत - चिति अनुरूप ही इस भारत भूमि के लोगों का राष्ट्रीय व्यवहार रहा है। रामायण और महाभारत हमारे राष्ट्रीय ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों को लोकमान्य तिलक ने राष्ट्र चिति की अभिव्यक्ति का महान स्रोत मानते हुए कहा था-'सर्वत्र रामायण और महाभारत की कथायें, उपकथायें और आख्यान लोगों में समान प्रिय हैं और उनके श्रवण से मन में एक सी भावना और विचार जाग्रत होते हैं। भारत भूमि के राष्ट्रीय एकत्व का साक्ष्य (चिति) के रूप में इससे मिलता है।[7]

महर्षि श्री अरविन्द ने भी पं 0 दीन दयाल उपाध्याय के विचारों का समर्थन करते हुए कहा है कि चिति का स्वरूप प्राकृत ईश्वर- प्रदत्त एवं स्वयंभू है। भारत के सारे जीवन प्रवाह की यही दिशा है। धर्म के उत्थान में ही उसका सुख और धर्म ग्लानि में उसे भी ग्लानि होती है। श्री अरविन्द ने इस सन्दर्भ में भगवत् गीता को उद्धृत किया है –

'यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।'

पहले यही सत्य श्री अरविन्द ने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर उत्तरपाड़ा के एक भाषण में जनता के सामने रखा था। श्री अरविन्द ने कहा था-' राष्ट्रोत्थान का हमारा आंदोलन राजनीतिक नहीं धार्मिक है। हमारा राष्ट्रीयत्व कोई राजनीति नहीं, यह हमारी श्रद्धा है, उपासना है। सनातन धर्म ही हमारा राष्ट्रीयत्व है। इस भारत राष्ट्र का जन्म सनातन धर्म के साथ ही हुआ है। ये दोनो अभिन्न हैं। उसकी गति और विकास एक ही है। जब - जब सनातन धर्म के नष्ट होने की संभावना हो तो निश्चित है कि राष्ट्र भी नष्ट हो जायेगा। मैं पुनः एक बार प्रकट रूप से कहता हूँ कि सनातन धर्म ही राष्ट्रीयत्व है। यही मंत्र मुझे भगवान से प्राप्त हुआ है।[9] 'महर्षि व्यास से लेकर आजतक यह धर्म सूत्र विद्यमान है। स्वामी विवेकानन्द भी मानते हैं कि किसी के प्राण धर्म में ही सम्भव है। इस सन्दर्भ में प्रो0 वी0 पी0 वर्मा ने भी श्री अरविन्द को निम्न प्रकार उद्धृत किया है;`The political salvation of India was essential for the spiritual redemption of mankind . The notion of Messianism, the conception that India was rising for

shedding the light of the glories of Sanatan Dharma in the world is the main characteristic of Nationalism'[10]

समर्थ रामदास स्वामी ने भी ऐसा ही विचार अपनी रचना' मनोबोध' की कुछ पंक्तियों में भारतीय जीवन क्रम सूत्र साररूप में अंकित किया है। यथा-

काया घिसती देवकाजहित।
वाचा बोले रामनाम नित।।
चले सदा सत् स्वधर्मपथ में।
सर्वोत्तम वह धन्य जगत् में।।[11]

धर्म की छत्र छाया में इन सभी व्यवहारों का अंतिम उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज को आत्म - साक्षात्कार स्वरूप शाश्वत सुख की प्राप्ति करा देना ही होता है। राष्ट्रीय चिति का यह बोध, भारतीयों में अपने ओजस्वी शब्दों द्वारा स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास को जगाने वाले स्वामी विवेकानन्द में भली भांति जाग्रत था। उन्होंने यह चेतावनी दी थी कि भारत के स्वभाव सिद्ध धर्म से दूर जाने पर हमारा जीवन तार - तार हो जायेगा। यह चेतावनी दैशिकशास्त्र के अनुसार ही थी। हिन्दुस्तान के इस स्वभाव का वर्णन करते हुए उन्होने कहा है –'हिन्दू कहता है कि राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता अवश्य चाहिए। किन्तु सच्चा मूल्य आध्यात्मिक स्वतंत्रता अर्थात् मुक्ति का है। यही हमारा राष्ट्रीय जीवन लक्ष्य है। हमने देखा कि हमारा सारा उत्साह, हमारी शक्ति एवं हमारा राष्ट्रीय प्राणतत्व हमारे धर्म में है। हमारे राष्ट्र की जीवन शक्ति यही है और हमें उसे पुष्ट करना चाहिए।[12]

अतः चिति राष्ट्र आत्मस्वरूपिणी शक्ति होती है। उसी प्रकार इस शक्ति की अनुगामिनी एक और शक्ति भी होती है। इस शक्ति को दैशिक शास्त्र में 'विराट'[13] की संज्ञा दी गई है। पं0 दीन दयाल जी ने इस संज्ञा का भी प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ में पं0 उपाध्याय जी ने कहा है-' जब तक चिति जाग्रत एवं शुद्ध रहती हैं, राष्ट्र का अभ्युदय बराबर होता रहता है। चिति द्वारा जाग्रत एवं एकात्म बनी समष्टि की प्राकृतिक क्षात्रशक्ति अर्थात् किसी भी अनिष्ट से राष्ट्र की रक्षा करने वाली शक्ति को' विराट' कहा गया है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। सहानुभूति की भावना उसे प्रकृति से मिली होती है। यह सहानुभूतियुक्त तेज ही व्यक्ति को समाजहित के लिये त्याग करने की प्रेरणा देता है। परस्पर सहानुभूति की यह भावना समाज की रक्षा के लिए व्यक्तिगत सामर्थ्य को न्यूनाधिक मात्रा में एकत्रित करते हुए एक विशिष्ट स्थान में केन्द्रित करती है। यही विराट है। यह चिति के प्रकाश में जाग्रत होता है और हम कहते हैं कि राष्ट्र जाग्रत हो गया है। विराट राष्ट्र का प्राण हैं तो चिति आत्मा। चिंति में प्रकाश से जाग्रत एकात्म जनसमाज की संगङ्कित कार्यशक्ति विराट की प्रेरणा लेकर प्रकट होते ही राष्ट्र मातृभूमि की अराधना करता हुआ ऐहिक एवं पारलौकिक, सभी प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर विश्व में अजेय स्वरूप में खड़ा होता है। यही राष्ट्र के सम्बन्ध में शाश्वत एवं सत्य सिद्धान्त है। इस सिद्धांत का भारत में प्रकटीकरण ही भारतीय राष्ट्र है।[14]

इसी सन्दर्भ में पं0 दीन दयाल उपाध्याय द्वारा Integral Humanism पर दिये गये वक्तव्य के चौथे अध्याय से अंग्रेजी की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना और अधिक समीचीन होगाः

'We shall be required to produce such institutions as will kindle the spirit of action in us, which will replace the self - centeredness and selfishness by a desire to serve the nation, which will produce not only sympathy towards our brethren, but a sense of affection and oneness with them . Such institutions can truly reflect

our' Chiti'.' Chiti' is a nation's soul. The strength and energy activating the nation is called' Virat' and channeled by' Chiti'. The place of' Virat' in the life of nation is similar to that of Prana in the body. Just as' Prana' infuses strength in various organs of the body, refreshes the intellect and keeps body and soul together, so also in a nation, with a strong' Virat' alone can democracy succeed and the government be effective. Then the diversity of our nation does not prove an obstacle to our national unity. The difference of languages, occupations, etc. are present everywhere. However, when the' Virat' is awake, diversity does not lead to conflicts and people co - operate with each other like the various limbs of the human body or like the members of a family. We have to undertake the task of awakening our nation's' Virat'. Let us go forward in this task with a sense of pride for our heritage, with a realistic assessment of the present and a great ambition for the future. We wish neither to make this country a shadow of some distant past nor an imitation of Russia or America. With the support of Universal knowledge and our heritage, we shall create a Bharat which will excel all its past glories, and will enable every citizen in its fold to steadily progress in the development of his manifold latent possibilities and to achieve through a sense of unity with the entire creation, a state even higher than that of a complete human being; to become Narayan from' Nar'. This is the external divine form of our culture. This is our message to humanity to cross roads. May God give us strength to succeed in this task.[15]

इस प्रकार हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि दीन दयाल जी राष्ट्रवादी राजनीति के संशयातीत तत्त्वचिन्तक थे, किन्तु इससे भी आगे बढ़कर यह बात महत्वपूर्ण है कि वे मानवतावादी थे। अतः दीन दयाल जी के सभी तत्त्वचिन्तन को आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रवादी एवं मानवतावादी अधिष्ठान प्राप्त था। वह सब एकात्मक एवं परस्पर संलग्न था। स्वतन्त्र भारत की समस्याओं की ओर इस एकात्मक दृष्टि से दीन दयाल जी देखा करते थे। इसलिए दीन दयाल जी के चिन्तन का समग्र अध्ययन करना होगा, क्योंकि वह एक मूलगामी व सर्वांगीण चिन्तन था। सामान्यतः हम मानते हैं कि दीन दयाल जी ने एकात्म मानववाद (Integral Humanism) का विचार वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त से लिया था। अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य ने ब्रह्म एवं जीव के तादात्म्य एवं एकता की बात कही है। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्म एवं आत्मा को एक होने अर्थात् उनमें कोई भेद न होने का विचार प्रतिपादित किया है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में तात्त्विक एकता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है, जबकि दीन दयाल जी के दर्शन में सामाजिक एकता के सिद्धान्त पर बल दिया गया है। यद्यपि की उसके मूल में अद्वैत वेदान्त की ही भावना निहित है। इसीलिए दीन दयाल उपाध्याय अनेकता में एकता (Diversity in Unity) के सिद्धान्त को अपने दर्शन का मूल आधार मानते हैं। अतः उनके एकात्म मानववाद का उद्देश्य समाज के सभी मानवों में एकता स्थापित करना रहा है। व्यक्ति के चेतना का विराम से ही राष्ट्र की संकल्पना विकसित हो सकती है। अतः राष्ट्र की समृद्धि का आधार राष्ट्रीय चेतना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चन्द्रशेखर परमानन्द भिषीकरः 'पं0 दीन दयाल उपाध्याय विचार दर्शन; (खण्ड -5) : राष्ट्र की अवधारणा' सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ0-58.
2. चन्द्रशेखर परमानन्द भिषीकरः 'पं 0 दीन दयाल उपाध्याय विचार दर्शन; (खण्ड -5) : राष्ट्र की अवधारणा' सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ0-60

3. श्री सुक्तम् देवी लक्ष्मी मंत्र – 7
4. 'दैशिक शास्त्र भारतीय पोलिटी एण्ड पोलिटिकल साइन्स' द्वारा : बद्रीशाह थुलधारिआ विश्वविद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
5. बलवंत नारायण जोगः' पंडित दीन दयाल उपाध्याय विचार - दर्शन – (खण्ड - छ) राजनीति राष्ट्र के लिए सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ0- 36 .
6. वही, पृ 0 - 36
7. लोकमान्य तिलक उपर्युक्त उद्धृत वही खण्ड -6, पृ 0 – 92
8. भगवद्गीता - अध्याय -4 (7. 8)
9. श्री अरविन्द उपर्युक्त उद्धृत, वही खण्ड 5, पृ 0 - 95.
10. V.P. Varma:' Modern Indian Political Thought: Laxmi Narain Agarwal Educational Publishers. Agra, 1993, P - 233.
11. स्वामी समर्थ रामदास मनोबोध' सुक्त- 8 अनुवादकः दत्तात्रय वामनराव माहूरकर, जबलपुर, श्री राधा दामोदर प्रतिष्ठान, पुणे- 2010.
12. Swami Vivekanand,' His call to the Nation,' Advait Ashram, Kolkata, 1979, पृ 0 – 100.
13. पं 0 दीन दयाल उपाध्याय उपर्युक्त उद्धृत, वही खण्ड -5, पृ0- 104.
14. पं 0 दीन दयाल उपाध्याय राष्ट्र जीवन की दिशा, (पृ0-61), उपर्युक्त उद्धृत खण्ड-5. वही पृ 0 105.
15. Pt . Deen Dayal Upadhyay-' Integral Humanism'- Chapter - 4 . [Last Page)

स्मृतियों में नारी-स्वातंत्र्य

चंद्रा पुरोहित
शोधार्थी,दर्शन शास्त्र, मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

सार–संक्षेपिका

हमारे देश में प्राचीनकाल से मध्यकाल तक अनेक प्रकार के सहित्य की सर्जना की गयी, जिसका समाज और संस्कृति पर विपुल प्रभाव पडा है। ये साहित्य प्रधानतः धार्मिक होते हुये भी तत्कालीन समाज और संस्कृति की व्यञ्जना करते हैं। आज भी हमारे समाज में स्त्रियों को दूसरे दर्जे का माना जाता है जबकि भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ वेदों के समय में स्त्री और पुरूष को समान सम्मान प्राप्त था।वर्तमान समय में विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा हैं। प्रत्येक संस्कृति अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है स्मृतियों के अनुसार भारतीय संस्कृति ने ही विश्व को सांस्कृतिक ज्ञान दिया है। परवर्ती संस्कृति उसी के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है इस सांस्कृतिक उत्थान के समय विश्व की नारियों में असाधारण चेतना उत्पन्न हुई है भारतीय नारी अभी इसी क्षेत्र में अग्रसर हुई है नारियों का प्राचीन इतिहास क्या था? और अब वर्तमान में उनकी क्या स्थिति है? इसकी समीक्षा उनके लिए आवश्यक हो गई है! प्राचीन भारतीय नारी की सांस्कृतिक स्थिति का जितना सुंदर विवेचन स्मृतियों में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं, इसी दृष्टि के फलस्वरुप स्मृतियों में नारी के अध्ययन का विषय अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। स्मृतियों में इस सन्दर्भ में समय-समय पर चर्चा होती रहती है, परन्तु उसका समग्र रूप में आकलन किया जाना आवश्यक है।

1. मनुस्मृति में नारी

नारी ईश्वर की अनुपम कृति है, वैसे तो नर और नारी दोनों ही सृष्टि का श्रृंगार करते हैं, इन दोनों का समान रूप से महत्व है ,दोनों ही अनादि काल से भूलोक को आलोकित कर रहे हैं और सृष्टि के विकास में सहायक है, एक के बिना दूसरा अधूरा है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक कहें जाते हैं फिर भी नारी का अपना एक विशिष्ट स्थान है[1] मनुस्मृति ने नारी का प्रथम रूप कन्या ही माना है उसे हमेशा स्नेह देना चाहिए, यदि कुछ कन्या चंचलता भी करे तो वह माफ़ी के योग्य है मनुस्मृति में नारी का प्रारंभिक विकास कन्या के रूप में होता है इस समय वह अपने माता-पिता के निकट रहकर उनकी आज्ञा का पालन करती हैं तथा पत्नी रूप में आने वाले कर्तव्य को वहन करने योग्य बनती है[2] मनुस्मृति में नारी का मात्र रूप सदा से ही पूजनीय रहा है, माता के लिए जननी शब्द का प्रयोग किया गया संतानोत्पत्ति के बाद नारी मातृत्व की चरम सीमा पर पहुंच जाती है, मनुस्मृति में माता को आचार्य व पिता से भी गौरवशाली स्थान दिया है प्रत्येक कार्य करने से पूर्व माता-पिता की स्वीकृति को आवश्यक समझती है,[3] कन्या के विवाह के विषय में मनु का कथन है कि यदि श्रेष्ठ सुंदर योग्य वर मिल जाए तो कन्या विवाह योग्य न होने पर भी ब्रह्म विधि द्वारा विवाह कर सकती है[4] मनु ने कहा है कि स्त्रियों को धन संग्रह उचित व्यवस्था को सुव्यवस्थित धार्मिक कृत्य करना भोजन पकाना तो सभी घरों के कार्यों को करना चाहिए,[5] जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तम आचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है। अनादर के कारण जो स्त्रियां पीड़ित और दुखी होकर पति, माता-पिता, भाई, देवर आदि को शाप देती हैं या कोसती हैं वह परिवार ऐसे नष्ट हो जाता है।[6] जैसे पूरे परिवार को विष देकर मारने से, एक बार में ही सब के सब मर जाते हैं।

ऐश्वर्य की कामना करने वाले मनुष्यों को हमेशा सत्कार और उत्सव के समय में स्त्रियों का आभूषण,वस्त्र, और भोजन आदि से सम्मान करना चाहिए। स्त्रियां हमेशा ही श्रद्धा की पात्र हैं।[7] अपनी कन्या का योग्य वर से विवाह न करने वाला पिता, पत्नी की उचित आवश्यकताओं को पूरा न करने वाला पति और विधवा माता की देखभाल न करने वाला पुत्र-निंदनीय होते हैं।[8]

मनु के अनुसार पिता की संपत्ति में तो कन्या का अधिकार पुत्र के बराबर है ही परंतु माता की संपत्ति पर एकमात्र कन्या का ही अधिकार है।[9] महर्षि मनु कन्या के लिए यह विशेष अधिकार इसलिए देते हैं ताकि वह किसी की दया पर न रहे, वो उसे स्वामिनी बनाना चाहते हैं, याचक नहीं। क्योंकि एक समृद्ध और खुशहाल समाज की नींव स्त्रियों के स्वाभिमान और उनकी प्रसन्नता पर टिकी हुई है।अकेली स्त्री जिसकी संतान न हो या उसके परिवार में कोई पुरुष न बचा हो या विधवा हो या जिसका पति विदेश में रहता हो या जो स्त्री बीमार हो तो ऐसे स्त्री की सुरक्षा का दायित्व शासन का है।[10] यदि उसकी संपत्ति को उसके रिश्तेदार या मित्र चुरा लें, तो शासन उन्हें कठोर दण्ड देकर, उसे उसकी संपत्ति वापस दिलाए। इस तरह, मनुस्मृति विवाह में किसी भी प्रकार के लेन-देन का पूर्णतः निषेध करती है ताकि किसी में लालच की भावना न रहे और स्त्री के धन को कोई लेने की हिम्मत न करे।[11] स्त्रियों का अपहरण करने वालों को प्राण दण्ड देना चाहिए। स्त्रियों, बच्चों और सदाचारी विद्वानों की हत्या करने वाले को अत्यंत कठोर दण्ड देना चाहिए। स्त्रियों पर बलात्कार करने वाले, उन्हें उत्पीडित करने वाले या व्यभिचार में प्रवृत्त करने वाले, आतंकित करने वाले को भयानक दण्ड दें ताकि कोई दूसरा इस विचार से भी कांप जाए।[12] माता, पत्नी या बेटी पर झूठे दोष लगाकर अपमान करने वाले को दण्डित किया जाना चाहिए। माता-पिता, पत्नी या संतान को जो बिना किसी गंभीर वजह के छोड़ दे, उसे दण्डित किया जाना चाहिए।[13]

2. याज्ञवल्क्य स्मृति में नारी

धर्म शास्त्रो पर विशेष रूप से याज्ञवल्क्य स्मृति का अध्ययन करते हुए विभिन्न मतो का प्रतिपादन किया है। अधिकतर मतो मे नारी की हीन स्थिति को इंगित किया गया है किन्तु याज्ञवल्क्य का कथन है कि कन्या का लालन -पालन बडे सुन्दर ढंग से करने में पिता या भाई का कर्तव्य है क्योंकि कन्या जिस कुल में प्रसन्न है वहां कुलवृद्धि और सम्पन्नता है तथा दुखी रहने पर कुल का नाश होता है।[14] याज्ञवल्क्य ने सन्तान को बेचना उपपातक माना है। इनके अनुसार उसे सुन्दर नाम वाली , सुन्दर शारीरिक अंगो से युक्त , गजगामिनी या हंस जैसी चाल वाली, कम बोलने वाली और रोग मुक्त हो उस कन्या को आदर्श माना है।[15]

विवाह प्रकरण विषय में याज्ञवल्क्य का मानना है कि जिसने शिक्षा पूर्ण कर ली है उन्हें ब्रह्मचर्य से ग्रहस्थ आश्रम में जाने के निर्देष निहित है। इन्होने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। पहला ब्रह्म विवाह वह होता ह जिसमें विद्धान और शीलवान वर को बुलाकर उसे यथा शक्ति उत्तम वस्त्र और आभूषणादि से अलंकृत कन्या प्रदान की जाती है।[16] देव विवाह के संदर्भ में इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने पूर्व की 10 तथा आगे आने वाले 10 और अपनी पीढी मिलाकर 21 पीढ़ियों को पवित्र करता है। 2 गाये लेकर कन्या दी जाती है वह आर्य विवाह होता है। इसी तरह पाश्चात्य विवाह, आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, रक्षक विवाह तथा पैशाच विवाह आदि विवाहो का उल्लेख किया है।[17] इसके अलावा यदि कोई पुरूष सजातीय कन्या के साथ उसकी सहमति पर सम्भोग करे तो यदि लड़की का पिता चाहे तो वह पुरूष उसको शुल्क दे तो कन्या

उस पुरूष को सौपी जा सकती है। परन्तु कन्या उस पुरूष से विमुख हो चुकी हो तो उसका विवाह अन्य पुरूष से करना अनुचित नही है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में नारी अपनी पवित्रता के द्वारा समाज में विचारो का आदान-प्रदान करती है। उसमें मृदुभाषण जैसा आकर्षित करने वाला गुण तथा अग्नि की तरह सब कुछ आत्मसात करने की शक्ति होनी चाहिये।[18]

याज्ञवल्क्य स्मृति में स्त्री को बालक को गर्भ में रखकर शारीरिक निर्माण एंव जन्म के बाद पालन-पोषण तथा मार्ग दर्शन द्वारा मानसिक निर्माण करने वाली स्त्री के लिये ''माता'' शब्द का प्रयोग अत्यन्त अर्थ भाव से पूर्ण है किन्तु मनु एवं याज्ञवल्क्य के मत में माता के रूप में नारी स्वतत्रं नही है। पुत्र के अभाव में जाति के लोग उसके रक्षक माने गये है। माता को पुत्र या अन्य पुरूष सम्बन्धी जनो के संरक्षण में रहने का आदेश इसलिये दिया गया है की वह बाहरी पुरूषो के सम्पर्क से बची रहे।

याज्ञवल्क्य में स्त्रीयों के कर्तव्यों व अधिकार सम्बन्धी विचार के अनुसार पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से इस लोक में वंश अविच्छिन्न बना रहता है तथा यह दोनो कार्य स्त्रीयों से ही सिद्ध होते है अतः इनकी सेवा और रक्षा करनी चाहिये। दूसरा आज्ञाकारिणी, परिश्रमी, पुत्रवती, मधुरवती, मधुभाशिणी, पत्नि को छोड देने पर सम्पति का तीसरा हिस्सा देना चाहिये। सम्पति नही होने पर भरण-पोशण का प्रबन्ध करना चाहिये।[19]

याज्ञवल्क्य की मान्यता है कि पत्नी का मुख्य धर्म पति की सेवा करना, पतिव्रत धर्म का पालन करना तथा गृह कार्यो की सम्भालना बताया है। जिसके अन्तर्गत गृह की वस्तुओं को यथा स्थान सम्भाल कर रखना, हँसमुख रहना, मितव्ययी होना, सास-ससुर की चरण वन्दना, उत्तम आचरण, गृह कार्यो में दक्ष होना आवश्यक माना हैं। सवर्ण जाति की पत्नी के जीवित रहते दूसरी पत्नी धार्मिक कार्य नही कर सकती है। यदि सवर्ण पत्नियां अनेक हो तो ज्येष्ठा पत्नि को छोड़कर दूसरी पत्नियों के साथ धार्मिक कृत्य नही किया जा सकता हैं।

याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि उत्तम आचार वाली पत्नी की मृत्यु हो जाये तो पति अग्निहोडा की अग्नि से उसका अन्तिम संस्कार करके यथा शीघ्र दूसरी पत्नी ग्रहण करे और पुनः अग्निहोडा का आधार करे।[20]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि व्रती का सत्कार करके उसे भिक्षा दे और मित्र, सम्बन्धी तथा बन्धुजनों के आने पर उन्हें पहले भोजन खिलावे। अतिथि किसी भी वर्ण का हो उसे यथा शक्ति दान देना चाहिये। याज्ञवल्क्य स्त्रीयों की प्रसंशा करते है कि स्त्री पति, पिता, भाई, जाति, सास, ससुर, देवर व बन्धु बान्धव के द्वारा आभूषण, वस्त्र और भोजन के द्वारा पुज्यनीय है।[21]

मनु व याज्ञवल्क्य दोनो पारिवारिक व्यवस्था के अन्तर्गत जो स्त्रीयों की दशा थी, उसमें पत्नी को मुख्य रूप से परिवार का निर्माण कर्ता माना है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कुछ विशेष परिस्थितियों में सौदायिक स्त्री धन पर भी पति को अधिकार प्रदान करती है। यदि दुर्भिक्ष, व्याधि में या बन्दी बनाये जाने पर पति स्त्रीधन का व्यय करे तो उस धन को लौटाने के लिये पति को बाध्य नही किया जा सकता। यदि स्त्रीधन को पति माता या भाई ले या उसका प्रयोग कर ले तो उन्हें यह धन ब्याज सहित उस स्त्री को लोटाना पड़ता है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य में पुरूषों मे स्त्री को सम्पति पर पूर्ण अधिकार दिया तो नही परन्तु कुछ परिस्थितियों में वह उसका प्रयोग मात्र कर सकती है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य में कभी-कभी ज्ञातवश या अज्ञातवश किये गये पाप के प्रायश्चित का भी उल्लेख किया गया है, जैसे व्यभिचारिणी कृत्य नही किया जा सकता हैं।

याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि उत्तम आचार वाली पत्नी की मृत्यु हो जाये तो पति अग्निहोडा की अग्नि से उसका अन्तिम संस्कार करके यथा शीघ्र दूसरी पत्नी ग्रहण करे और पुनः अग्निहोडा का आधार करे।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि व्रती का सत्कार करके उसे भिक्षा दे और मित्र, सम्बन्धी तथा बन्धुजनों के आने पर उन्हें पहले भोजन खिलावे। अतिथि किसी भी वर्ण का हो उसे यथा शक्ति दान देना चाहिये। याज्ञवल्क्य स्त्रीयों की प्रसंशा करते है कि स्त्री पति, पिता, भाई, जाति, सास, ससुर, देवर व बन्धु बाधव के द्वारा आभुषण, वस्त्र और भोजन के द्वारा पूज्यनीय है।[22]

3. पराशर स्मृति में नारी

पराशर स्मृति में निर्दिष्ट नारी विषयक विचारो की अवधारणा से स्पष्ट होता है कि पराशर स्मृति में कन्या उपेक्षित नही वरण स्नेह एवं सम्मान योग्य समझी जाने लगी। पुत्र और पुत्री दोनो एक ही पिता की सन्तान होने के कारण समान मानी जाती है। इनके अनुसार धर्मज्ञ पुत्री पिता की स्वर्ग प्राप्ति का कारण होती है।[23] विवाह के सम्बन्ध में पराशर का मत है कि रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह कर दिया जाये अर्थात् जो पिता ऋतु से पूर्व अपनी कन्या का विवाह नही कर देता वह निन्दनीय है, नरक का भागी है। स्त्रीयां सर्वथा पवित्र होती है इसलिए पराशर स्मृति में कहा गया है कि 8 वर्ष बालिका गौरी का रूप व 9 वर्ष बालिका रोहिणी होती है तथा 10 वर्ष की कन्या होती है, उसके पश्चात् वह रजस्वला हो जाती है।[24]

पराशर नारी को लक्ष्मी का रूप मानते है और उन्हें सदा आभूषण से सन्तुष्ट रखने का आदेश[25] दिया है, क्योंकि स्त्रीयों के सन्तुष्ट होने पर लक्ष्मी है और रूष्ट हो जाने पर वे ही दुष्ट देवता है अर्थात् स्त्री के प्रसन्न रहने से मनुष्य की आयु, धन, यष और पुत्र बढते है।

पराशर स्मृति में स्त्रीयों की पवित्रता को अनेक तरह से वर्णन किया गया है उन्होने कहा है कि जिस प्रकार बालको और वृद्धो का मुख पवित्र माना जाता है उसी प्रकार स्त्रीयों का मुख भी पवित्र होता है।[25] पत्नी के रूप में पराशर कहते है कि मनुष्य के घर का आधार स्त्री है अर्थात् वह पति की इच्छा अनुसार आचारण करने वाली है। मृदुभाषी हो, घर के कामकाज में चतुर हो, पति में श्रद्धा रखने वाली, प्रलाप और विलाप आदि से दूर रहने वाली व किसी से विवाद न करें।[26] यह सभी गुण पत्नी में होने चाहिये। इसके विपरीत यदि स्त्री अपने दरिद्र और रोगी पति का अपमान करती है तो वह कुतियां, गधी, मगरमछ के रूप में उत्पन्न होती है, साथ ही मरकर वह सर्प बनती है, स्त्री के कर्तव्यों सम्बन्धी विषय पर पराशर ने कहा है कि स्त्री को पति से पहले उठकर और शरीर की शुद्धी करके घर की सफाई कर यज्ञकर्म में काम आने वाले चिकने पात्रो को प्रोक्षणीरा सादय आदि मंत्र के साथ गर्म पानी से साफ करना चाहिये तथा सभी दैनिक कार्य से निवृत होकर अपने से बडो का अभिवादन करना चाहिये,[27] अपने पति और अपने पिता के द्वारा अथवा भाई,नाना, और बन्धजनों द्वारा दिये वस्त्रो, अलंकारो और रत्नो को ही धारण करना चाहिये। पराशर कहते है कि पत्नी न अधिक व्यय करने के स्वभाव वाली होनी चाहिये और ना ही धर्म और अर्थ का विरोध करने वाली हो। आलस्य, पागलपन, क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान, हिंसा, शत्रुता, नास्तिक भाव, अत्याचार, चोरी आदि को पतिव्रता स्त्री को छोड देना चाहिये।[28]

पराशर स्मृति में गृहस्थ को माना है अर्थात् मनुष्य के शरीर में साढे तीन करोड़ रोम होते है जो स्त्री स्वामी का अनुशरण करती है वह उतने ही काल तक स्वर्ग में निवास करती है। जिस प्रकार सर्प पकडने वाला सर्प को बिल से बल पूर्वक निकालता है। उसी प्रकार वह स्त्री पति का उद्धार करके उसके साथ ही आनन्दित होती है।

स्त्री के अधिकार के सम्बन्ध में पराशर का कथन है कि स्त्री प्रातः और सांय संध्या हवन करे। बच्चो और पति को भोजन खिलाकर खावे, घर के दैनिक काम निपटाकर दिन में थोड़ा विश्राम करे। पराशर स्मृति में पुत्र के अभाव में पति-पत्नी को एक दूसरे श्राद्धकर्म करने की स्वतत्रंता दी गई है। मृत्यु पर्यन्त स्त्री -पुरूष में परस्पर धर्म अर्थ और काम विषयक कार्यो में अलगाव न हो, यही स्त्री- पुरूष का धर्म है।

पराशर स्मृति में नारी की समानता पृथ्वी से की है अर्थात् जहां पत्नी है वही घर है। पत्नी के बिना घर वन के समान है। घर से व्यक्ति गृहस्थ नही बनता, पत्नी के साथ रहने से गृहस्थ बनता है। पति के लापता, मृतक, पतित और सन्यासी होने की दशा में स्त्री को दूसरे पुरूष से विवाह करने की अनुमति दी है किन्तु पराशर ने पुनः कहा है कि पति के मृत्युगत होने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती है वह एक सद् ब्रह्मचारी के भांति ही मृत्यु के बाद स्वर्ग को प्राप्त करती है। अतः स्पष्ट है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में ही स्त्री को पुनःविवाह का अधिकार देते हुए भी विधवा विवाह को अच्छा नही समझा गया है।

पराशर स्मृति में भी मनु व याज्ञवल्क्य स्मृति की तरह स्त्री हेतु निम्न प्रायष्चितो का वर्णन किया गया जैसे दुराचारिणी स्त्री और गर्भपात कराने वाली स्त्री से कभी वार्तालाप नही करना चाहिये। पराशर स्मृति के अनुसार जो नारी पुरूषो के द्वारा बन्दी बनाकर एवं मारपीट कर और भय दिखाकर भयभीत की गई हो वह सान्तपन कृत्त से शुद्ध होती है।

स्मृतियों में नारी को गौरवपूर्ण स्थान देते हुए जगत के विकास का मूल कारण माना गया है। नारी का आदर सत्कार करके घर की शोभा और प्रतिष्ठा बनाने का परामर्श दिया गया है। स्मृतियों में कन्या को अत्यंत ही कृपा का पात्र माना है और उनका आदर, सम्मान के साथ लालन-पालन करने तथा अलंकरण से परिपूर्ण रखने की व्यवस्था की गई है। पुत्र और पुत्रियों को समान रखने की व्यवस्था दी गई है। पुत्र और पुत्री को समान रूप से संतति शब्द से प्रदर्शित किया गया है। इतना आदर देते हुए भी स्मृतिकारों ने कन्या को स्वतंत्र रूप से कोई भी कार्य करने की अनुमति नहीं दी। स्त्रियों को बचपन, यौवन एवं वृद्धावस्था में क्रमशः पिता, पति और पुत्र के अधीन रखा गया। स्मृतियों में जो पिता अपनी पुत्री का विवाह उचित आयु मे नहीं करता था, उसे निंदनीय माना जाता था। बाल विवाह होने के कारण कन्या को शिक्षा से वंचित होना पड़ा। विवाह को ही कन्या का उपनयन और पितगृह ही उनका गुरुकुल मान लिया गया। स्मृतियों में कन्या के रक्षण की आड़ में हर प्रकार की स्वतंत्रता से वंचित कर दिया गया।

स्मृतियों में पत्नी के रूप में नारी का कार्यक्षेत्र गृह माना गया और इसी आधार पर उसे गृहस्वामीनी कहा गया। पति और पत्नी को एक दूसरे के पूरक कहा गया है तथा आदर्श वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के लिए पति-पत्नी को समभाव होकर धर्म, अर्थ, काम में लगे रहना चाहिए। स्मृतियों में पत्नी के विविध कर्तव्य मिलते हैं जैसे संतान उत्पन्न करना, उनका लालन पोषण करना, अतिथियों का सत्कार करना, धार्मिक कर्म, पति की आज्ञा को देवता की भांति सम्मान देना। पत्नी बिना पति की आज्ञा के कोई कार्य नहीं कर सकती थी। पूजा, व्रत, धार्मिक कर्म भी उसे पति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात ही कर सकती थी। पति पत्नी पति का पूर्ण रूप से आश्रित थी। उसे किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी गई थी। यहां तक स्त्रीधन का उपयोग करने से पहले पत्नी को पति से आज्ञा लेनी पड़ती थी। स्त्री के कुछ धन पर पति का नियंत्रण होता था। पति चाहे जैसा भी हो उसकी आज्ञा का पालन उसकी सेवा तथा छाया के समान उसके साथ लगे रहना, मित्र की भांति परामर्श देना तथा दासी की भांति आज्ञा की प्रतिक्षा करना, पत्नी का परम धर्म था।

स्त्री जीवन की सफलता ही मातृत्व में है। माता बनने के बाद ही वह अपने पूर्ण नारीत्व को प्राप्त कर पाती है। स्मृतिकारों ने माता के रूप में नारी को समस्त आदर सम्मान प्रदान किया तथा सर्वोच्च स्थान दिया किंतु माता एक स्त्री है, इस कारण उसे पुत्र के रक्षणत्व में रखा है। स्मृतियों में नारी के रूप में विधवा का जीवन बड़ा ही कठोर एवं नीरस था। उसे अपना जीवन संयम और त्याग से बिताना पड़ता था। उसे किसी भी प्रकार का श्रृंगार नहीं करना तथा जीवन भर कंदमूल, फल खाकर शरीर को दूर्बल बनाकर रखना चाहिए। स्मृतियों में विधवाओं को असंभव का सूचक भी माना गया है। विधवा को किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं दिया गया था।

स्मृतिकाल में नारी शिक्षा का तीव्र गति से ह्रास हुआ। यज्ञ और वैदिक प्रार्थनाओं का उच्चारण करने का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को प्राप्त था जिसका उपनयन संस्कार किया गया हो परंतु स्मृतियों में कन्याओं के उपनयन का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। स्त्रियों के उपनयन के महत्व कम हो जाने का सबसे बड़ा कारण था बाल विवाह। जो कुछ ही समय कन्याओं को शिक्षा के लिए मिलता था। बालविवाह के कारण उसमे कमी आ गई। कन्याओं को घर से बाहर पुरुष के संरक्षक में लड़कों के साथ अध्ययन करने नहीं दिया गया था, क्योंकि इससे कन्या कौमार्य नष्ट होने की आशंका बढ़ जाती थी। कन्या की शिक्षा गृह में ही होती थी। पैतृक संपत्ति के भाग में स्त्रियों के उत्तराधिकार के विषय में स्मृतियों में विस्तृत चर्चा मिलती है। जिस पिता पुत्र के अभाव में पुत्री को पैतृक संपत्ति का अधिकार दिया जाता था। स्मृतियों ने पत्नी को किसी भी प्रकार का दायांश का अधिकारिणी नहीं माना गया है। उसे केवल पति से भरण-पोषण प्राप्त करने का ही अधिकार था। विधवाओं को संपत्ति पर अधिकार केवल जीवनयापन के लिए होता था। वह न तो संपत्ति बेच सकती थी, ना ही दान दे सकती थी। इस प्रकार कुछ स्त्रीधन को स्त्री बिना पति की अनुमति के न बेच सकती थी, न दान दे सकती थी। यहां तक स्त्री को स्व उपार्जित धन का स्वामिनी भी नहीं माना गया है। उनकी सारी संपत्ति पति की होती थी।

स्मृतियों ने चार प्रकार के विवाह को निंदनीय माना गया है, परंतु समाज में ऐसे विवाह को मान्यता दी गई है। संभवतः ऐसा इसलिए किया गया कि खरीदी हुई कन्या, अपहरण की हुई कन्या या बलात्कार की हुई कन्या को समाज की उपेक्षा की दृष्टि से ना देखा जाए अतः उसके सम्मान की रक्षा और समाज में स्थान देने के उद्देश्य से स्मृतिकारों ने आसुर, राक्षस तथा पैशाच जैसे विवाह आठ प्रकार के विवाह में स्थान दिया। स्मृतियों में सवर्ण विवाह को ही महत्व प्रदान किया गया है। पुनर्विवाह के विषय में स्मृतियों ने वर्णन मिलता है परंतु इसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। विवाह संस्कार के पश्चात ही नारी को समाज में समुचित स्थान प्राप्त होता है। विवाह संस्कार के बाद नारी के स्वभाव में स्थिरता, गंभीरता और अपनी गृहस्थी को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने की प्रवृत्ति का उदय होता है। इसीलिए स्मृतियों में नारी को गृहस्वामीनी कहा गया है।

स्त्रियां धार्मिक कृत्यों का संपादन स्वतंत्र रूप से कर सकती थी, किन्तु पति की अनुपस्थिति मे अथवा पति की आज्ञा के बिना पत्नी स्वतंत्र रूप से कोई यज्ञ या धार्मिक कृत्य संपादित नहीं कर सकती थी। पत्नी पति के साथ प्रत्येक धार्मिक कर्तव्य में कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग देती थी। एक गृहस्थ द्विजाती माता पिता की सेवा, अतिथि सत्कार आदि सामाजिक एवं अग्निहोत्र की पूजा, देव यज्ञ, भूत, यज्ञादि धार्मिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति पत्नी के साहचर्य में ही कर सकता था परंतु धार्मिक अधिकारों के अभाव व वैदिक मंत्रोच्चारण के निषेध के कारण इस युग में नारी की धार्मिक स्थिति अत्यंत हीन हो गई थी।

निष्कर्षतः स्मृतियों में नारी की स्वतंत्रता पर कड़ा नियंत्रण लगाया गया। इस नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य नारी के सतीत्व और अचारण को बनाए रखना, आचारहीन स्त्रियों को समाज की दृष्टि से देखा जाता था। स्मृतियों का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के आचरण की शुद्धता को बनाए रखने के लिए स्मृतिकारों ने स्वतंत्र नारियों से संबंधित नियम बनाए। जिससे समाज में व्यभिचार न फैले और ऐसी स्त्रियों के प्रति न्याय हो सके और समाज में आचरण की शुद्धता बनी रहे। स्मृतियों में नारी को किसी भी रूप में स्वतंत्रता नहीं प्रदान की गई है। बचपन में पिता, यौवन में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र को उसका संरक्षक नियुक्त किया गया है। इस अवस्था को समस्त स्मृतिकारों ने माना है। स्मृतियों में रक्षण की आड़ में स्त्रियों को सभी प्रकार की स्वतंत्रता से वंचित कर दिया है। जिससे उनके व्यक्तित्व का विकास न हो सका और उनका कार्यक्षेत्र गृह तक ही सीमित रह गया था। स्मृतिकारों ने स्त्रियों की स्वतंत्रता से इसे वंचित रखने का कारण माना है।

संस्कृति के निर्माण और संवर्धन में नारी का गरिमामय महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पारिवारिक आदर्शों, सामाजिक जीवन एवं पुरुष की आत्मिक शक्ति को दृढ एवं उत्कृष्ट बनाने में स्त्री ने अपने विविध रूपों में त्याग एवं तपस्या को समय-समय पर प्रस्तुत किया है। इसीलिए समाज में सांस्कृतिक विकास का मानदंड नारी की मर्यादा ही है। उसी संबंध में मनु ने बताया कि जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। वर्तमान युग में देखा जाए तो नारी घर और समाज दोनों जगह हिंसा, उत्पीड़न, शोषण, तिरस्कार तथा अपमान की शिकार हो रही है। ऐसी स्थिति में स्मृतियों में वर्णित नारी के प्रति सम्मान और रक्षण का विचार आज के समाज में प्रकाश स्तम्भ का कार्य कर सकता है।

स्मृतिकाल में नारी का वर्तमान परिप्रेक्ष्य

स्मृतिकाल में प्रतिपादक ये संस्कार वर्तमान समय में प्रायः प्रासंगिक हो चले मुख्यतः संस्कार के रूप में पुंसवन और सीमान्तोन्नयन शायद ही किसी के द्वारा सम्पादिक किये जाते हो। नामकरण, निष्क्रमण और चुंडाकर्म संस्कार समाज में किसी न किसी रूप में आज भी प्रचलित है। पुरूष शिशु के जन्म को उत्साह व स्त्री शिशु के लिए होना अपवाद स्वरूप ही है। अतः जब स्त्रियों के लिए संस्कार होना ही प्रचलन में नहीं है तो आमन्त्रक संस्कार का विधान ही अप्रमाणिक लगता है। क्योंकि मनु व याज्ञवल्क्य ने विवाहेत्तर स्त्री संस्कारों को अमन्त्रक कहा है इसलिए नारियों के लिए संस्कारों का महत्व घटता गया।

प्रकृति को चलाए रखने में स्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका होती है इनमें स्मृतियों में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र सदियों से घर समझा जाता था विवाह करना, पति की आज्ञा का पालन करना और संतानोत्पति यही उनके जीवन का ध्येय माना गया था। नारी के स्वतंत्रत, आत्मनिर्भर स्वं में पूर्ण ईकाई के अस्तित्व को पुरूष संचालित समाज में निरन्तर अवहेलना की दृष्टि से देखा। इन समस्याओं के मूल में था नारी का अशिक्षित होना, जो पुरूष प्रधान समाज की मानसिकता के कारण नारी पर थोप दिया गया था किन्तु आज की नारी हर क्षेत्र में अपनी पहचान बना रही है। घर हो या बाहर वह पूर्ण आत्मविश्वास से निर्णय लेने में सक्षम है।

स्मृतिकारों की यह धारणा यही है कि स्त्रियों को घर के कामकाज और सन्तानोत्पादन में व्यस्त रखा जाय। शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की धारणा वर्तमान समय में अप्रासंगिक है क्योंकि नारियों को मात्र प्रजननयंत्र न समझकर आत्मनिर्भरता वर्तमान की आवश्यकता है। जहां पर नारियां शिक्षित है वहाँ उनके सोचने समझने की शक्ति और आत्मनिर्भरता जैसे परिणाम देखने को मिल रहे है। स्मृतिकालों में समस्त नारियों को अशिक्षित

नहीं रखा जाता था बल्कि कुछ उच्चवर्गीय परिवार के नारियों की शिक्षा की उच्चव्यवस्था सामान्यतया घर में हुआ करती थी। वर्तमान समय में स्थान-स्थान पर विद्यालय खुले हुए है और नारी शिक्षा को प्रोत्सोहित किया जा रहा है।

मनुस्मृति 9/B, याज्ञवल्क्य स्मृति।। 85, पाराशर स्मृति 6/59 में नारी स्वतंत्रता के प्रबल विरोधी थे किन्तु वर्तमान में नारी की स्वतंत्रता अथवा विकास की चेतना को अपवित्र और उत्छंखल नहीं मानती वह समझने लगी है कि उसकी गरिमा एवं चारित्रिक महिमा का विकास किस प्रकार का होगा। मनुस्मृति के अनुसार स्त्री स्वभाव से ही कोमल होती है अतः वह रक्षणीय है। चारों वर्णों का कर्तव्य है कि स्त्रियों की रक्षा करें। आज नारी स्वाधीन है, पुरुष के समकक्ष है किंतु सुरक्षित नहीं। प्रतिदिन अनेक महिलाओं के साथ दुराचार होता है। मनु व याज्ञवल्क्य में नारी सम्मान पर विशेष बल देते हुए कहा है कि जहां नारी का सम्मान नहीं होता। वह घर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यह वर्तमान में भी चरितार्थ होती है। इसके अतिरिक्त मनु ने नारी के वस्त्राभूषणों से अलंकृत करने की बात कही है, जो आज के दौर में फैशन, डिजाइनर, श्रृंगार प्रसाधन सामग्री आदि नारी को श्रृगारप्रियता के लिए ही है।[29]

मनु सामान्य रूप में दयाभाग में पुत्री का स्थान निर्धारित नहीं करते हैं जबकि वर्तमान पैतृक संपत्ति पर पुत्री का समान अधिकार है इसके अतिरिक्त स्त्रीधन पर कोई विवाद नहीं है। सभी धर्मशास्त्रकारों ने उस धन पर सभी स्त्री का प्रभुत्व स्वीकार किया है। वह अपनी इच्छा से उसका व्यय करती है। स्त्री अपने पति का वरण स्वयं कर सकती है क्योंकि याज्ञवल्क्य स्मृति में मुख्य रूप से आठ प्रकार के विवाह का उल्लेख किया है, जिसमें प्रजापत्य विवाह तथा गान्धर्व विवाह का अधिक प्रचलन है। ये दोनों विवाह वर्तमान में श्रेष्ठजनों में सर्वाधिक सामाजिक मान्यता प्राप्त है। इसके अतिरिक्त राक्षस और पैशाच विवाह प्राचीनकाल में भी निंदनीय थे और वर्तमान में भी हीनदृष्टि से देखे जाते हैं।

स्मृतियों में कहा गया है कि स्त्री घर की लक्ष्मी है, प्रजनन व पालन में दक्ष माता पूजनीय है, अर्थात आज जब घरों में पुत्री उत्पन्न होती है, तब यही कहा जाता है कि घर में लक्ष्मी आई है। स्मृतियों में स्त्रियों के साथ दुराचार करने वालों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था की गई है। किंतु यही दुराचार यदि ब्राह्मण करे तो उसके लिए हल्का दंड देने का विधान है। सब वर्गों के लिए दंड की व्यवस्था समान है। मनु ने माता-पिता, स्त्री-पुत्र को त्याग के अयोग्य माना है जहां तक की मृत्यु के बाद भी दंपत्ति का विच्छेद नहीं होता है। आज भी पत्नी का यदि विवाह विच्छेद होता है तो उसे जीवन पर्यंत भरण पोषण भत्ता देना आवश्यक है।

निष्कर्षतः आज की पीढी स्वतंत्र जीवनयापन करना चाहती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के नीतिवचन पंडित के उपदेशों से अधिक कुछ नहीं है। तलाक, जीवनसाथी को बदलना सामान्य बात है। आधुनिकता के प्रवाह ने नैतिकता को बहुत दूर धकेल दिया है।

संदर्भ ग्रंथ

1. पडिया, चंद्रप्रकाश (2009), ''वुमन इन धर्मशास्त्र ए फिनोमिना लॉजिकल एंड क्रिटिकल एनालिसिस'' रावत पब्लिकेशन, बनारस
2. सुक्ष्मेश्यों पि प्रंसडगेभ्यः स्त्रियों रक्ष्या विशेषतः। दृयोहिं कुलयोंः शोकमावहेयुरक्षिताः।। मनु 9/115
3. मनुस्मृति 9/115

4. मनुस्मृति 9/18
5. मनुस्मृति 5/154
6. मनुस्मृति 5/157
7. मनुस्मृति 5/115
8. दुर्गासाप्तशती
9. मनुस्मृति 7/115
10. मनुस्मृति 3/56 द्विधा काचाभनो देहमर्धेन पुरूषोभपत् अधैननारी तस्यां य विराजमस्रजत्रभुः मनु1/32
11. मनुस्मृति 8/352 372-384
12. मनुस्मृति 3/15
13. मनुस्मृति 8/407
14. अन्योन्यास्यार्त्याभचारो भवेदारणान्तिकः धर्मः समालेन ज्ञेयः स्त्रीवुसयोः मनु 9/101
15. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/52 ए 3/259
16. याज्ञवल्क्य स्मृति 3/256, 3/260
17. कुमार सन्तोष (2016), धर्मशास्त्र में नारीः याज्ञवल्क्य में नारी की स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन, ऑनलाइन पब्लिशिंग
18. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/46-47, याज्ञवलक्य स्मृति 1/54
19. याज्ञवल्क्य स्मृति ट्रासलेटड बॉय डॉ केशव कुमार कश्यप, चोखम्भा कृष्णदास एकेडमी (2001) वाराणसी
20. याज्ञवल्क्य स्मृति3/258
21. याज्ञवल्क्य स्मृति1/46
22. पराशर स्मृति 1/36
23. पराशर स्मृति 1/47
24. पराशर स्मृति 3/435
25. पराशर स्मृति 1/30
26. पराशर स्मृति 3/156
27. स्त्रीभिश्च पुरूषाः जिताः पराशर 1/30
28. नाथा विजय (2009), द पोराणिक वर्ड- इनवायरमेंट, जेण्डर, मनोहर पब्लिलिशर्स, न्यू दिल्ली
29. डानिजर (2009), हिन्दुजः ए अल्टरनेटिव हिस्ट्री, द पेंग्युम प्रेस, न्यूयार्क।

सत्योपाख्यानम् : एक समीक्षा

शोधछात्रा श्वेता देवी
गंगानाथ झा परिसर आजाद पार्क, प्रयागराज

सत्योपाख्यानम् ग्रन्थ राम कथा साहित्य की अमूल्य निधि है। सत्य अर्थात् राम का उपाख्यान। यहाँ पर संक्षेप में उपाख्यान का अर्थ जानना अनिवार्य प्रतीत हो रहा है। उपाख्यान अर्थात उपआख्यान इस प्रकार उपाख्यान से तात्पर्य है, किसी बड़ी कहानी के अन्दर लिखी गई छोटी-छोटी कहानियाँ। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण महाभारत है, जिसमें अनेक छोटी-छोटी कहानियाँ है जिसे उपाख्यान कहा जाता है। इसी प्रकार रामकथा में भी अनेक ऐसे छोटे-छोटे प्रसंग हैं, जिनका वर्णन प्रायः नाम मात्र से ही प्राप्त हो पाता है। उन सभी प्रसंगों एवं घटनाओं का अत्यन्त ही मनोरंजक एवं सुन्दर ढंग से प्रस्तुतीकरण सत्योपाख्यानम् नामक ग्रन्थ में किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ के लेखक के विषय में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है किन्तु रामकथा विषयक जो सूचनाएँ एवं जानकारियाँ इस ग्रन्थ में प्राप्त होती हैं वह अतुलनीय है।

जिस प्रकार ग्रन्थ के रचनाकार के विषय में असमर्थता प्राप्त होती है उसी प्रकार इस ग्रंथ के हस्त लेख के काल के विषय में भी कुछ निश्चित रूप से कह पाना सम्भव नही हो पाता। कामिल बुल्के के अनुसार इसका समय 1500-1600 ई0 सम्भव हो सकता है। हस्तलेख के मातृकाओं से प्रतिलिपि 19वीं शताब्दी में प्राप्त हुई है। सत्योपाख्यानम् नामक इस ग्रन्थ में 'सत्य' शब्द का प्रयोग राम के लिए तो अत्यल्प है किन्तु 'सत्या' शब्द का प्रयोग अधिक प्राप्त होता है। 79 अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में सत्या शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं- अयोध्या और सीता। ग्रन्थ में अयोध्या नगरी परक अर्थ का प्रयोग अधिक है। इसे भगवान विष्णु की आदि पुरी भी कहा है।[1] इसके साथ ही साथ इसका एक अन्य नाम भी प्रचलित है 'विमला'

'सत्या च विमला चैव पुरी चाद्या प्रकीर्तिता।
अयोध्या नाम विख्याता वेदे लोके तथैव च ।।अ.79/3।।

इस नगरी की विशेषता एवं दिव्यता के विषय में बताते हुए लेखक ने लिखा है कि इस पुरी के सम्मुख पापी टिक नही पाते यदि कोई पापी अथवा दुराचारी व्यक्ति इस नगरी के सम्मुख गलत भावना से आता है तो वह उसे अपनी गदा से दण्डित करने को सदैव तत्पर रहती है।

उद्यतायुद्धदोर्दण्डाः सत्यायाः सन्मुखं गताः ।
अयोध्यापि महावीर्या यथा नाम तथा गुणाः ।।
ताडितायोध्यया सर्वे गदया भीमवेगया ।
पलायनपराः सर्वे पुरस्तस्या न तस्थिरे।। अ. 34/14, 15

लोक एवं वेद में प्रसिद्ध अयोध्या को विमला नाम से तो द्योतित किया ही गया है साथ ही में सत्या का दूसरा अर्थ सीता के नाम से भी किया गया है। ग्राम बधुओं ने भूमि से उत्पन्न सीता को सत्या एवं इन्दिरा अर्थात् लक्ष्मी स्वरूप में माना[2] ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। ग्रन्थ में सत्य शब्द से अत्यल्प ही सही किन्तु राम का भी वर्णन है अतः इस विषय में भी चर्चा अनिवार्य है। सत्योपाख्यानम् ग्रन्थानुसार भगवान् श्री राम नारायण एवं परब्रह्म स्वरूप हैं अर्थात् विष्णु के ही अवतार हैं उसका उन्हें भलीभाँति ज्ञान है। यही नही मन्थरा भी इस तथ्य से अवगत है और यही कारण है श्री राम के साथ मन्थरा के द्वेष का। श्री राम सत्, चित, और आनन्द स्वरूप हैं एवं योगीगण इन्हीं में अपना ध्यान लगाते हैं।

श्रीराम के इस सत् चित् आनन्द स्वरुप का उल्लेख ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर किया गया है। ग्रन्थ के मंगलान्त में इनकी स्तुति करते हुये कहा गया है.

एवं ध्यायेत् सदा रामं जानकीपतिमव्ययम्।
रमते योगिनो यस्मिन् सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्मभिधीयते।। 1-79/2,3,

सम्पर्ण ग्रन्थ में नारायण स्वरूप श्री राम के सत्य स्वरूप का ही तान है किन्त सत्या के लिए अधिक है और हो भी क्यों न इस ग्रन्थ में राम कथा भी अयोध्यापुरी के इर्द-गिर्द घूमती है। पढ़ते-पढ़ते यह प्रतीत होने लगता है कि अयोध्या पुरी की कथा ही पढ़ रहे हैं, फिर भी राम इस कथा के केन्द्र बिन्दु कहे जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान विष्णु की आदि पुरी है और इसी कारण यह सर्वदा यहाँ वास करते हैं। नारायण के निवास स्थान होने के कारण ही अयोध्या का अधिक वर्णन इस ग्रन्थ में मिल पाता है।

सत्योपाख्यानम् ग्रन्थ की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण उन्यासी अध्यायों वाले इस ग्रन्थ में केवल राम के जीवन की सुखात्मक घटनाओं का उल्लेख है अर्थात् राम-सीता एवं राम के चारों भाइयों के विवाह के पश्चात् उनके अयोध्या एवं सरयू भ्रमण पर्यन्त ही ग्रन्थ है इसके पश्चात ग्रन्थकार नें ग्रन्थ की समाप्ति का उल्लेख कर दिया। एक प्रकार से हम यह भी कह सकते हैं कि रामकथा की सुखात्मक प्रसंगों का वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है जैसे ही राम वनगमन, दशरथ मृत्यु इत्यादि दुःखात्मक प्रसंग आरम्भ होता है ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है। यह इस ग्रन्थ के विषय में विशेष है। इसके साथ ही इस ग्रन्थ में श्री राम के अतिरिक्त उनके अन्य भाइयों के अवतार का वर्णन भी प्राप्त है जो कि अन्यत्र केवल अगस्त्य संहिता (3/9-10)[3] में प्राप्त होता है। श्री राम को नारायण का अवतार बताया गया है, तो लक्ष्मण को शेषशायी अर्थात् शेषनाग का अवतार वहीं भरत को शङ्ग एवं शत्रुघ्न को चक्र होने का उल्लेख मात्र यहीं प्राप्त हो पाता है अगस्त्य संहिता को छोड़कर और इस तथ्य का वर्णन कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा आदि रानियों के स्वप्न से ही हो जाता है जिसको वे रानियाँ महर्षि वशिष्ठ से इस प्रकार कहती है।

कौशल्या- 'कदाचित् रामं पश्यामि स्वप्ने परमभास्वरम् ।
गरुणोपरि राजन्तं शङ्गचक्रधरं सुतम् ।।
सुमित्रा- 'ममापि श्रृणु विप्रर्षे स्वप्ने पश्यामि लक्ष्मणम् ।
सहस्राशिरसं नागं रजतस्यैव विग्रहम् ।।
कैकेयी. 'अहं पश्यामि मो विप्र भरतं शङ्गरूपिणम् ।

इस प्रकार के अवतार का वर्णन प्राप्त होता है। ये चारो भाई अवतारी पुरुष हैं। यह भी कुछ विशिष्ट लोगों को ज्ञात होता है जैसे ऋषि वशिष्ठ, सीता वं उसकी अभिन्न सखी शारदा को भी इस तथ्य का भान होता है। विवाह के समय वह कहती है.

भवान्नारायणो देवो श्यामसुन्दर विग्रहः।
लक्ष्मणः शेषरूपश्च भरतः शङ्गमूर्तिभृत्।।
शत्रुहा चक्ररूपश्च भया होवं विलोकिताः। अ.16/25,26, सत्योपाख्यानम्.

इस बात को शारदा नें हास परिहास में सबके समक्ष भी कह दिया था। इस प्रकार श्री राम अपने तीनों भाइयों समेत शङ्ग, चक्र एवं शेष से युक्त नारायण के अवतार कहे गये हैं। जिन्होनें इस पृथ्वी के कष्ट निवारण हेतु अयोध्या पुरी में राजा दशरथ के घर अवतार लिया था। इस कथा में विशिष्ट तथ्य भरत का शङ्ग होना तथा शत्रुघ्न का सुदर्शन चक्र होना है और यही एक महत्वपूर्ण

कारण भी है जो इसे अन्य रामकथाओं से भिन्न करती है। लक्ष्मण का शेषावतार और श्री राम का विष्णु अवतार तो प्रायः सभी रामकथाओं में प्राप्त होता है।

श्रीरामादि चारो भाईयों का ही नहीं अपित सीता आदि चारों बहनों के भी अवतार का वर्णन यहां प्राप्त होता है। सीता को नारायण की शक्ति, उर्मिला को शेषनाग की शैषी शक्ति का, माण्डवी को पाञ्चजन्य शंख की शक्ति तथा श्रुतकीर्ति को सुदर्शन चक्र की शक्ति का अवतार कहा गया है, इतना ही नहीं सीता की सखियाँ अणिमा आदि विभूतियाँ हैं अर्थात् जो भी अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आदि अष्ट सिद्धियां हैं एवं पद्म, महापद्म, नील, मुकुन्द, नन्द, मकर, कच्छप, शंख, खर्व आदि नौ निधियाँ हैं ये सभी सीता की सखी के रुप में अवतरित हुई हैं। सीता का साथ दशमहाविद्यायें भी अवतरित है ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में सीता इस रहस्य को अपनी सखी वासन्तिका के समक्ष स्वयं प्रस्तुत करती हैं।

अहं कन्या भविष्यामि जनकस्य महीतलात् ।
शैषी शक्तिरूर्मिला च जनकस्यैव हयौरसी।।
पत्नी पाञ्चजनस्यापि माण्डवीति प्रकीर्तिता।
श्रुतकीर्त्तिः तु चक्रस्य कुशध्वज सुते इमे।।
उत्पत्स्येते महाभागे विमले प्रस्तुते जनैः ।
भविष्यन्ति च में सख्यो अणिमाद्याः विभूतयः।।अ.50/38,40
(सत्योपाख्यानम्)

इन सभी अवतारों के वर्णन इस ग्रन्थ में प्राप्त होते है। इसके साथ ही कुछ और महत्वपूर्ण वर्णन यथा मन्थरा के पूर्व जन्म का वृतान्त और विष्णु अवतारी श्री राम से उसका विरोध इस प्रसंग का विस्तार से वर्णन केवल यहीं प्राप्त होता है यथा मन्थरा दैत्य वंश में उत्पन्न कन्या थी, श्रीराम को वह क्रूर दृष्टि से देखती थी।

इदं पापसमूहं ते स्थगुरूपेण वर्तते।
पृष्ठोपरि महापापे श्री रामे क्रूरदर्शिना।९32-33

मन्थरा पूर्व जन्म में विरोचन जो कि भक्तप्रहलाद के पौत्र ते उनकी पुत्री थी।[4] विरोचन अपने प्रताप से देवों का राज्य प्राप्त कर लिया था। देवगुरू वृहस्पति ने देवों को ब्राह्मण बनकर विरोचन से उसकी आयु माँगने का प्रस्ताव दिया। देवों ने वैसा ही किया विरोचन ने देवताओं को पहचानते हुए भी सहर्ष अपनी आयु दे दी। इस तथ्य से दुखी और क्रोधित दैत्य कर्म में निपुण विरोचन की पुत्री मन्थरा ने दैत्यों के साथ देवों के विनाश के लिए युद्ध में प्रवृत्त हो गयी। दोनों पक्षों में तुमुल संग्राम हुआ। प्रथमतः तो देवों की पराजय हुई किन्तु बाद में नारायण की प्रेरणा से इन्द्र ने मन्थरा के मस्तक पर वज्र से प्रहार किया और वह मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी और देवताओं की विजय हुई। इन्द्र के प्रहार से उसका सिर, ग्रीवा एवं कटिभाग भग्न हो गया तथा पीङ्ग पर कूबर निकल आया। इस प्रकार इन्द्र को प्रेरित करने वाले विष्णु के प्रति उसने मन में वैर पाल लिया और रोते बिलखते उसकी मृत्यु हो गयी। उसका पुनर्जन्म कैकेय प्रदेश में हुआ और कैकयी की धाय माँ के रूप में रही किन्तु विष्णु से वैर नहीं गया।

मन्थरा के इस प्रकार का वर्णन इस ग्रन्थ में दसवें अध्याय से प्राप्त होता है जो अन्यत्र राम कथा में अदृष्ट है। सत्योपाख्यान में देवयोगिनी का भी वर्णन है जो मोहिनी विद्या की ज्ञाता थी। इसी की सहायता से कैकेयी तथा राजा दशरथ का विवाह हुआ था। इस ग्रन्थ में तिथि एवं व्रत का भी माहात्य प्राप्त होता है चूँकि यह एक राम कथा है इसलिए नवमी तिथि जो कि श्री राम

के जन्म की तिथि है और एकादशी व्रत जो नारायण से सम्बन्धित है इसके विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है जैसे व्रत की विधि, पूजा इत्यादि कैसे करें इसका वर्णन इस ग्रन्थ में एक प्रसंग के माध्यम से हुआ है। एक बार नारद ऋषि राजा दशरथ के गृह में उपस्थित थे। राजा दशरथ नें नारद के आदर सत्कार में भोजन इत्यादि की व्यवस्था की तो नारद नें कहा कि राजन् आज एकादशी है और इस दिन व्रत करता हूँ तो राजा दशरथ ने देवर्षी नारद से फलाहार का अनुरोध किया तो उन्होनें इस पर एकादशी व्रत का विधान करते हुए कहा कि इस दिन मध्यम श्रेणी के व्रत में आता है और भोजन तो अतीव निन्दनीय है निराहार व्रत उच्चकोटि का है इस व्रत में दिन में हरि कीर्तन एवं रात्रि में जागरण का विधान है। इसी प्रकार नवमी तिथि की महत्ता का वर्णन है इस तिथि पर केवल श्री राम ही नहीं अपितु सीता का भी अवतरण हुआ था

चैत्रे मासे नवम्यां तु जातो रामः स्वयं हरिः ।
पुनर्वस्वर्क्षसंयुक्ता सा तिथिः सर्व कामदा 1-32/7
मासोत्तमे महापुण्ये वैशाखे माधवप्रिये ।
कुजवारे शुक्लपक्षे नवमी पुष्यसंयुता ।15114

इसके अतिरिक्त अयोध्या एवं अयोध्या में स्थित तीर्थस्थलों पर भी रचनाकार की गहन दृष्टि है। अयोध्या पुरी का धार्मिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप भी इस ग्रन्थ में परिलक्षित होता है। अयोध्या की भौगोलिक स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए लेखक ने लिखा है कि हिमालय एवं विन्ध्य पर्वत के मध्य देश में अयोध्या पुरी स्थित है।[5] अयोध्या की भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त अयोध्या में स्थित तीर्थ स्थलों का भी वृहद् वर्णन इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है। अयोध्या के शिरोभाग में गोप्रतार तीर्थ है। यह सरयू तट पर है इसी तट पर यमस्थल वाशिष्ठ्य पुलिन है। इसके अतिरिक्त सहस्रधारा तीर्थ, पश्चिम में राजतीर्थ, इनके मध्य में पापमोचन तीर्थ, स्वर्गद्वार, सरयू के उत्तर में पार्वती सर, मनोरमा नदी, उद्यालक ऋषि का यज्ञ स्थल, देवखात सरोवर, पञ्चश्वा तडाग, रामरेखा तीर्थ एवं गुप्तहरि तीर्थ इन सभी तीर्थों का वर्णन सत्योपाख्यान में प्राप्त होता है।

यद्यपि अयोध्यापुरी विष्णु की पुरी होनें के कारण स्वयं मे अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है किन्तु सरयू नदी की चर्चा के बिना अयोध्या का वर्णन असम्भव है सरयू के जल को ब्रह्मद्रव कहा गया है।

ब्रह्मद्रवे पुनश्चात्र रामः क्रीडां करिष्यिति ।

सरयू की उत्पत्ति का बड़ा ही रोचक प्रसंग इस ग्रन्थ के 37 वें अध्याय में प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि सरयू की उत्पत्ति भगवान विष्णु के नेत्र जल से हुआ है। भगवान विष्णु के उस नेत्रजल को ब्रह्मा जी नें अपने कमण्डल में रख लिया समयोपरान्त वशिष्ठ ऋषि के द्वारा ब्रह्मा से विष्णु के न्यास रूपी अश्रु को प्राप्त किया गया आगे-आगे वाशिष्ठ ऋषि चलते गये पीछे-पीछे ब्रह्मद्रव रूपी सरयू नदी रूप में आती गयी। इस प्रकार वशिष्ठ ऋषि अयोध्या पहुँचे और वहीं पर सरयू नदी का प्रवाह हुआ। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि पृथ्वी पर सरयू का आगमन स्वयंभुव मनु के काल में वशिष्ठ ऋषि द्वारा हुआ।

सत्योपाख्यान ग्रन्थ में विविध देवों की स्तुतियाँ है। इन स्तुतियों का वर्णन समय-समय पर अनेक अध्यायों में मिलता है। स्तुतियों की भाषा अत्यन्त सरल एवं भक्ति से परिपूर्ण है। इन स्तुतियों में नारद द्वारा श्री राम की स्तुति, ब्रह्मा कृत गणेश स्तुति, कौशल्या एवं अन्य स्त्रियों द्वारा बालक राम की रक्षा हेतु पठित रक्षा श्लोक, काकभुशुंड कृत बाल राम की स्तुति, यमराजकृत अयोध्या स्तुति, राजा दशरथ कृत सरयू स्तुति, बिल्व संज्ञक गन्धर्व द्वारा की गई श्री राम स्तुति, शंकरब्राह्मण द्वारा भरत स्तुति, देह से मुक्त देव कृत शत्रुघ्न स्तुति, रमापाद कृत सीता स्तुति आदि

प्रमुख स्तुतियों का वर्णन अपने पाठ-फल के साथ प्राप्त होता है। केवल स्तुतियाँ ही नहीं अपितु ग्रन्थकार ने श्री राम के चरित्र, अयोध्या के माहात्म्य तथा उससे सम्बद्ध तीर्थों के वर्णन हेतु विभिन्न कथाओं का भी उल्लेख किया है जिनमें से कुछ कथाओं का नामोल्लेख इस प्रकार से है- मन्थरावृत्तान्त भुशुंड कथा, विश्वावसु कथा, रत्नकला की कथा, नवमी व्रत की कथा, पाँच पापियों की कथा, सरयू उत्पत्ति की कथा, महिष वध कथा, डिंडिर किरात की कथा, शंकर ब्राह्मण की कथा, गजन्देह के शाप से माहिष्मती के ब्राह्मण की मुक्ति की कथा, अहिल्योद्धार की कथा आदि।

कथा एवं प्रसङ्गों की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार नें अनेक शब्दों का निर्वचन एवं अर्थ स्पष्ट किया है जो इस प्रकार दृष्टव्य है तथा बालक की व्याख्या एवं निर्वचन

बाल केशः इति प्रोक्तः क शब्देन प्रजापतिः ।
बाले बाले ककारस्तु जायते तस्य नित्यदा।।
इति वालक शब्देन परब्रह्म विधियते ।
बालकस्यास्य चार्थोऽयं मया ज्ञातः सुनिश्चितम् ।।

अर्थात् बालक पद में बाल का अर्थ है केश एवं 'क' का अर्थ है प्रजापति। अतः जिसके प्रत्येक बाल में सदा प्रजापति उत्पन्न होते हैं वह है बालक । इसी प्रकार अयोध्या- इस शब्द का निर्वचन भी अतुलनीय है

'पापैर्न योध्यते यस्यास्तेनायोध्येति कथ्यते'

अर्थात् जिससे पाप समूह युद्ध न कर सके वह अयोध्या है। इसी प्रकार विश्वावसु, निरञ्जन, दशहरा, वाशिष्ठी राम[6] आदि शब्दों का निर्वचन इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने किया है। सूक्तियों का प्रयोग भी ग्रन्थकार नें यत्र-तत्र आवश्यकता अनुसार किया है। एक सुन्दर सूक्ति का उदाहरण द्रष्टव्य है- विश्वामित्र राजा दशरथ से श्री रामादि के विवाह के प्रसंग में कहते हैं कि भाग्यवानों के अपने भाग्य से सभी स्थानों पर भूति (समृद्धि, अभ्युदय) प्राप्त होती है 'भाग्यात् भाग्यवतां भूतिः सर्वत्र किल जायते'।

सत्योपाख्यान में बालरूप श्री राम के शुभ-चिन्हों का भी वर्णन किया गया है जिसके माध्यम से ग्रन्थकार ने सामुद्रिक शास्त्र का भी विवेचन किया है। प्रमुख लक्षण इस प्रकार है- अष्टमी के चन्द्रमा के समान ललाट, धनुषाकार भौहें, खञ्जन पक्षी तथा मछली के समान नेत्र, शुक समान नेत्र, सुन्दर गण्डस्थल, दिव्य कर्ण, अनार के बीज के समान दाँत, लाल ओष्ठ, चिबुक का गर्त, कण्ङ पर तीन रेखायें, सुवर्ण के सदृश प्रकाशमान नख, सुन्दर नाभि तथा ऊरु सधन एवं पीन थे, चरण कमल के समान, पैरो में वज्र बिन्दु, ध्वज अमृतकुण्ड, स्वास्तिक तथा चन्द्र के चिन्ह थे। इस प्रकार भगवान श्री राम के दिव्य चिन्हों के वर्णन से ग्रन्थकार के सामुद्रिक शास्त्र परक ज्ञान का बोध होता है।

सत्योपाख्यानम् ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र एवं नृत्यविद्या का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। श्रीराम जानकी के विवाह के अवसर पर सीता की सखी वासन्तिका के नृत्य के माध्यम से ग्रन्थकार ने नाट्य शास्त्र में वर्णित नियमों का भी वर्णन अध्याय 50 में किया है। सीता की सखी नृत्य, गान तथा भावाभिनय में प्रवीण थी। ग्रन्थकार ने भाव, कटाक्ष एवं हेतु को श्रृंगार रस के आदि बीज के रूप में वर्णन किया है। कटाक्ष तीन प्रकार का बताया गया है श्याम, श्वेत एवं श्वेत-श्याम। इसी प्रकार हास भी तीन प्रकार का होता है अभिनय के भी चार प्रकार बतायें गयें हैं आङ्गिक, वाचिक, आहार्य, सात्विव। इतिकर्तव्यता दो प्रकार की कही गई है चित्तवृत्यर्पिका एवं बाह्य-बाह्यवस्त्वनुकारिणी। नाट्यधर्म भी दो प्रकार से वर्णित है- लोकधर्म्य, सनातन। दृष्टि के भी दश

प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है। नृत्य के भी प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता है इसके साथ-साथ नृत्य एवं अभिनय में होनें वाले नेत्रों के भावाभिनय का भी सजीव वर्णन हुआ है। नृत्य में होने वाले पैरों की गति या धिरकन के भी सात भेदों का वर्णन है जो उल्लेखनीय है- भानवी, मैनवी, गजलीला, तरङ्गिणी, हॅसी, मृगी तथा खञ्जरीटी। लास्य नृत्य के लिए लाव, हंस, मयूर, हय, कुञ्जर, तित्तिर, कुक्कुट एवं मीन की गति कही गयी है ये सब नृत्य के भेद हैं। इस प्रकार नृत्य एवं नाट्य के विषद वर्णन से यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार को नाट्यशास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान था।

ग्रन्थकार नें इस ग्रन्थ के माध्यम से पृथ्वी एवं भारतवर्ष का भी मानचित्र दिखाने का प्रयत्न किया है। पृथ्वी में जम्बू एवं भारत खण्ड (भारत वर्ष) का दर्शन कराया है। विमान से उड़ते हुए पृथ्वी सप्त समुद्रो, द्वीपों, सागरों, पर्वतों एवं वनों से युक्त है। भूमि अर्थात् पृथ्वी वलयाकार परिलक्षित होती है पृथ्वी के मध्य में सुमेरू पर्वत सुवर्ण पुष्प के समान दिख रहे हैं एवं जम्बूद्वीप के नौखण्ड दिखलाई पड़ रहा है। उन्ही नौ खण्डो में एक भारत खण्ड है जिसे भारतवर्ष कहा जाता है। भारतखण्ड के पुण्यशाली क्षेत्रों में सागर के समीप स्थित जगन्नाथ का स्थान, विश्वनाथ की काशी, पितरों का तर्पण स्थल गया, तीर्थराज प्रयाग, चित्रकूट, महेन्द्रगिरि, दर्दुर मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि स्थानों का वर्णन है।

इस ग्रन्थ में एक और महत्वपूर्ण वर्णन है। रामकथा के साथ ही कृष्णावतार की पीठिका भी यहाँ से ही आरम्भ हो जाती है जो अन्य ग्रन्थ में शायद ही प्राप्त हो । एक ओर मुख्य एवं प्रधान रूप से रामकथा चल रही होती है और कृष्णावतार की कथा की आधार भी यहाँ पर ही बन जाती है। जो कि रघुवंशी वीर सिंह एवं रत्नकला से आरम्भ होती है। रत्नकला राजा दशरथ को श्री राम को गोद में लिए देखती है तो शिशुराम को गोद में लेने की अदम्य लालसा से वह रुग्ण हो गयी। अस्वस्थता को जानकर कौशल्या अपने पुत्र के साथ रत्नकला को देखनें गई। रत्नकला नें श्री राम को अपनें अङ्क में लिया और मन ही मन श्री राम जैसा पुत्र पाने की कामना नारायण से करनें लगी अतः हरि इच्छा से प्रेरित होकर राम जैसा पुत्र पाने की इच्छा से ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में वीरसिंह एवं रत्नकला गये और पुत्र प्राप्ति का उपाय पूछा। ऋषि वशिष्ठ ने ध्यान लगाकर भविष्य देखते हुए उन दोनों को तप करनें के लिये कहा ध्यान में उन्हें यह ज्ञात हुआ कि द्वापर में ये दोनों नन्द एवं यशोदा होगें और श्री राम कृष्णावतार लेगें

द्वापरान्ते युवां जन्म लभेतां गोकुले पुनः।
वीरसिंहस्तु नन्दो वै यशोदा च भवेत्वियम् ।
रामोयं कृष्णरूपेण पुत्रत्वं च भविष्यति ।।-30/31,32

राम के कृष्णावतार की अगली सम्भावना विश्वामित्र के साथ वन जाते हुए श्री राम के मन में उठे विचार से प्राप्त होती है। वन मार्ग में राम गायों, बछड़ों एवं उन्हें दुहते हुये गोपालकों को देखते हैं। उनके मन में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि अगले अवतार में मैं भी ऐसा ही करूँगा।[7] किन्तु ग्रन्थकार की दृष्टि में दोनों राम एवं कृष्ण एक ही हैं वो इन दोनों में समानता करते हुए लिखतें है

रामस्तु कृष्णरूपेण रामरूपेण माधवः ।
तयोः भेदं न कर्तव्यं कृत्वा पापमानुयात्।। 30/01

इस प्रकार सत्योपाख्यान के समस्त वर्णन का सारांश देने के बाद समीक्षात्मक रूप से इस ग्रन्थ के विशेषताओं को संक्षेप में बिन्दुगत करना अनिवार्य है--

* सत्योपाख्यान में राम-कथा श्री रामादि चारों भाइयों के विवाह तक ही है। विवाह के पश्चात् सभी भाई एवं उनकी पत्नियाँ अयोध्या में स्थित तीर्थों का भ्रमण करते है एवं उसी के साथ ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है।
* राम और तीनों भाइयों की अवतार की कथा एवं सीता और बहनों की अवतार की कथा की उद्धावना भी इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है।
* मन्थरा के पूर्व जन्म का वृतान्त एवं पूर्व जन्म से विष्णु से वैर की कथा इसी ग्रन्थ में प्राप्त होती है।
* दशरथ एवं कैकेयी विवाह एवं देवयोगिनी, नारद का प्रसंग भी इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है।
* रत्नकला एवं वीरसिंह की कथा के माध्यम से कृष्णावतार की सूचना भी यहीं प्राप्त होती है।
* श्री राम एवं अयोध्यापुरी से सम्बद्ध कथायें अन्य रामकथाओं में अप्राप्य है।
* सत्योपाख्यान में धनुर्भङ्ग के पश्चात् परशुराम आते तो हैं किन्तु उनका विवाद प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार से इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य प्राप्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. विष्णोराद्या पुरी सत्या तस्या माहात्म्यमीदृशम्। सत्योपाख्यानम् अ. 34/22.
2. सत्यामयोनिजां सीतामिन्दिरां मेनिरे स्त्रियः - 72/16 सत्योपाख्यानम्
3. अगस्त्य संहिता, सम्पादन पं. भवनाथ झा, महावीर मन्दिर प्रकाशन, पटना-2009.
4. नाम्ना विरोचनो दैत्यो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्करः। तस्येयं मन्थरा कन्या पूर्वजन्मनि नागराः।
5. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये भूवैकुण्ठयोऽपि दृश्यते । नाम्नायोध्येति विख्याता यजेया सकलैरपि।।
6. रमन्ते योगिनो यस्मिन सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते ।।
7. गवाश्च दुहतो वत्सान-सत्योपाख्यान अध्याय 53/28, 29.
8. सत्योपाख्यानम्, सम्पादकः डॉ. शैलजापाण्डेयः, राष्ट्रियसंस्कृत संस्थानम् गङ्गानाथ झा परिसरः, प्रयागराज-2011.
9. उत्तररामचरितम्- डॉ रामाधर शर्मा सम्पादक, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2005.
10. नाट्यशास्त्र-गोदावरी वासुदेवकेतकर (व्याख्याकार), परिमल पब्लिकेशन्स शक्तिनगर दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998
11. अन्तर्जाल.